वेदान्त दर्शन

सम्पादक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
माता भगवती देवी शर्मा

*

प्रकाशक
युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ० प्र०)

*

वसंत पर्व संवत् २०६१ मूल्य : १०.०० रुपये

* प्रकाशक :

युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ० प्र०)

* सम्पादक

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
माता भगवती देवी शर्मा

* प्रथम आवृत्ति (संशोधित-परिवर्धित संस्करण)
वसंत पर्व संवत् २०६१

* मूल्य : ९०.०० रुपये

* मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ० प्र०)

भूमिका

भारतीय चिन्तन धारा में जिन दर्शनों की परिगणना विद्यमान है, उनमें शीर्ष स्थानीय दर्शन कौन सा है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर एक ही नाम उभरता है, वह है-वेदान्त। यह भारतीय दर्शन के मंदिर का जगमगाता स्वर्णकलश है- दर्शनाकाश का देदीप्यमान सूर्य है। वेदान्त की विषय वस्तु, इसके उद्देश्य, साहित्य और आचार्य परम्परा आदि पर गहन चिन्तन करें, इससे पूर्व आइये, वेदान्त शब्द का अर्थ समझें।

वेदान्त का अर्थ- वेदान्त का अर्थ है- वेद का अन्त या सिद्धान्त। तात्पर्य यह है- 'वह शास्त्र जिसके लिए उपनिषद् ही प्रमाण है। वेदान्त में जितनी बातों का उल्लेख है, उन सब का मूल उपनिषद् है। इसलिए वेदान्त शास्त्र के वे ही सिद्धान्त माननीय हैं, जिनके साधक उपनिषद् के वाक्य हैं। इन्हीं उपनिषदों को आधार बनाकर बादरायण मुनि ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की।' इन सूत्रों का मूल उपनिषदों में है। जैसा पूर्व में कहा गया है- उपनिषद् में सभी दर्शनों के मूल सिद्धान्त हैं।

वेदान्त का साहित्य

ब्रह्मसूत्र- उपरिवर्णित विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्त का मूल ग्रन्थ उपनिषद् ही है। अत: यदा-कदा वेदान्त शब्द उपनिषद् का वाचक बनता दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदीय मूल वाक्यों के आधार पर ही बादरायण द्वारा अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादन हेतु ब्रह्मसूत्र सृजित किया गया। महर्षि पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में उल्लेखित 'भिक्षुसूत्र' ही वस्तुत: ब्रह्मसूत्र है। संन्यासी, भिक्षु कहलाते हैं एवं उन्हीं के अध्ययन योग्य उपनिषदों पर आधारित पाराशर्य (पराशर पुत्र व्यास) द्वारा विरचित ब्रह्म सूत्र है, जो कि बहुत प्राचीन है। यही वेदान्त दर्शन उत्तर मीमांसा के नाम से प्रख्यात है। महर्षि जैमिनि का मीमांसा दर्शन पूर्व मीमांसा कहलाता है, जो कि द्वादश अध्यायों में आबद्ध है। कहा जाता है कि जैमिनि द्वारा इन द्वादश अध्यायों के पश्चात् चार अध्यायों में संकर्षण काण्ड (देवता काण्ड) का सृजन किया गया था। जो अब अनुपलब्ध है, इस प्रकार पूर्व मीमांसा षोडश अध्यायों में सम्पन्न हुआ है। उसी सिलसिले में चार अध्यायों में उत्तर मीमांसा या ब्रह्म-सूत्र का सृजन हुआ। इन दोनों ग्रन्थों में अनेक आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि इन बीस अध्यायों के रचनाकार कोई एक व्यक्ति थे, चाहे वे महर्षि जैमिनि हों अथवा बादरायण अथवा बादरि। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड एवं उत्तर मीमांसा में ज्ञानकाण्ड विवेचित है। उन दिनों विद्यमान समस्त आचार्य पूर्व एवं उत्तर मीमांसा के समान रूपेण विद्वान् थे। इसी कारण जिनके नामों का उल्लेख जैमिनीय सूत्र में है, उन्हीं का ब्रह्मसूत्र में भी है। वेदान्त सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, जिसका उल्लेख अग्रिम पृष्ठों पर 'वेदान्त का अन्य साहित्य और आचार्य परम्परा' शीर्षक में आचार्यों के नामों सहित विवेचित किया गया है।

वेदान्त दर्शन का स्वरूप और प्रतिपाद्य-विषय

'वेदों' के सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त ही 'वेदान्त' का प्रतिपाद्य हैं। उपनिषदों में ही ये सिद्धान्त मुख्यत: प्रतिपादित हुए हैं, इसलिए वे ही 'वेदान्त' के पर्याय माने जाते हैं। परमात्मा का परम गुह्य ज्ञान वेदान्त के रूप में सर्वप्रथम उपनिषदों में ही प्रकट हुआ है।

'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः .... ' (मुण्डक० ३.२.६)। **'वेदान्ते परमं गुह्यम् पुराकल्पे प्रचोदितम्'** (श्वेताश्वतर० ६.२२)। **'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः'** (महानारायण० १०.८) इत्यादि श्रुतिवचन उसी तथ्य का डिंडिम घोष करते हैं। इन श्रुति वचनों का सारांश इतना ही है कि संसार में जो कुछ भी दृश्यमान है और जहाँ तक हमारी बुद्धि अनुमान कर सकती है, उन सबका मूल स्रोत एकमात्र 'परब्रह्म' ही है।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र प्रमुखतया ब्रह्म के स्वरूप को विवेचित करता है एवं इसी के सम्बन्ध से उसमें जीव एवं प्रकृति के सम्बन्ध में भी विचार प्रकट किया गया है। यह दर्शन चार अध्यायों एवं सोलह पादों में विभक्त है। इनका प्रतिपाद्य क्रमश: निम्नवत् है-

१- **प्रथम अध्याय** में वेदान्त से सम्बन्धित समस्त वाक्यों का मुख्य आशय प्रकट करके उन समस्त विचारों को समन्वित किया गया है, जो बाहर से देखने पर परस्पर भिन्न एवं अनेक स्थलों पर तो विरोधी भी प्रतीत होते हैं। प्रथम पाद में वे वाक्य दिये गये हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्टतया कथन है, द्वितीय में वे वाक्य हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्ट कथन नहीं है एवं अभिप्राय उसकी उपासना से है। तृतीय में वे वाक्य समाविष्ट हैं, जिनमें ज्ञान रूप में ब्रह्म का वर्णन है। चतुर्थ पाद में विविध प्रकार के विचारों एवं संदिग्ध भावों से पूर्ण वाक्यों पर विचार किया गया है।

२- **द्वितीय अध्याय** का विषय 'अविरोध' है। इसके अन्तर्गत श्रुतियों की जो परस्पर विरोधी सम्मतियाँ हैं, उनका मूल आशय प्रकट करके उनके द्वारा अद्वैत सिद्धान्त की सिद्धि की गयी है। इसके साथ ही वैदिक मतों (सांख्य, वैशेषिक, पाशुपत आदि) एवं अवैदिक सिद्धान्तों (जैन, बौद्ध आदि) के दोषों एवं उनकी अयथार्थता को दर्शाया गया है। आगे चलकर लिङ्ग शरीर प्राण एवं इन्द्रियों के स्वरूप दिग्दर्शन के साथ पंचभूत एवं जीव से सम्बद्ध शंकाओं का निराकरण भी किया गया है।

३- **तृतीय अध्याय** की विषय वस्तु साधन है। इसके अन्तर्गत प्रथमत: स्वर्गादि प्राप्ति के साधनों के दोष दिखाकर ज्ञान एवं विद्या के वास्तविक स्रोत परमात्मा की उपासना प्रतिपादित की गयी है, जिसके द्वारा जीव ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में कर्मकाण्ड सिद्धान्त के अनुसार मात्र अग्निहोत्र आदि पर्याप्त नहीं, वरन् ज्ञान एवं भक्ति द्वारा ही आत्मा और परमात्मा का सान्निध्य सम्भव है।

४- **चतुर्थ अध्याय** साधना का परिणाम होने से फलाध्याय है। इसके अन्तर्गत वायु, विद्युत् एवं वरुण लोक से उच्च लोक-ब्रह्मलोक तक पहुँचने का वर्णन है, साथ ही जीव की मुक्ति, जीवन्मुक्त की मृत्यु एवं परलोक में उसकी गति आदि भी वर्णित है। अन्त में यह भी वर्णित हैं कि ब्रह्म की प्राप्ति होने से आत्मा की स्थिति किस प्रकार की होती है, जिससे वह पुन: संसार में आगमन नहीं करती। मुक्ति और निर्वाण की अवस्था यही है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में ईश्वर, प्रकृति, जीव, मरणोत्तर दशाएँ, पुनर्जन्म, ज्ञान, कर्म, उपासना, बन्धन एवं मोक्ष इन दस विषयों का प्रमुखरूपेण विवेचन किया गया है।

वेदान्त का अन्य साहित्य और आचार्य परम्परा

ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का और भी साहित्य प्रचुर मात्रा में संप्राप्त होता है, जो विभिन्न आचार्यों ने विविध प्रकारेण ब्रह्म-सूत्र आदि ग्रन्थों पर भाष्य, वृत्तियाँ, टीकाएँ आदि लिखी हैं। यद्यपि प्राचीन आचार्यों में बादरि, आश्मरथ्य, आत्रेय, काशकृत्स्न, औडुलोमि एवं कार्ष्णाजिनि आदि के मतों का भी वर्णन प्राप्त होता है; किन्तु इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। आइये जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनका व उनके आचार्यों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करें-

१- आद्य शंकराचार्य-

ब्रह्म-सूत्र पर सर्वप्राचीन एवं प्रामाणिक भाष्य आद्य शंकराचार्य का उपलब्ध होता है। यह शाङ्करभाष्य के नाम से प्रख्यात है। विश्व में भारतीय दर्शन ने शंकराचार्य के नाम से जितनी ख्याति प्राप्त की है, उतनी न किसी आचार्य ने प्राप्त की और न ग्रन्थ ने। शंकराचार्य का जन्म ७८८ ई० में तथा निर्वाण ८२० ई० में हुआ बताया जाता है, इनके गुरु गोविन्दपाद तथा परम गुरु गौड़पादाचार्य थे। इनके ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र-भाष्य (शारीरक भाष्य), दशोपनिषद् भाष्य, गीता-भाष्य, माण्डूक्यकारिका भाष्य, विवेकचूड़ामणि, उपदेश-साहस्री आदि प्रमुख हैं।

२-भास्कराचार्य-

आचार्य शंकर के समकालीन भास्कराचार्य त्रिदण्डीमत के वेदान्ती थे। ये ज्ञान एवं कर्म दोनों से मोक्ष स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार ब्रह्म के शक्ति-विक्षेप से ही सृष्टि और स्थिति व्यापार अनवरत चलता है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक लघु भाष्य लिखा है।

३- सर्वज्ञात्म मुनि-

ये सुरेश्वराचार्य के शिष्य थे, जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक पद्यात्मक व्याख्या लिखी है, जो 'संक्षेप-शारीरक' नाम से प्रसिद्ध है।

४- अद्वैतानन्द-

ये रामानन्द तीर्थ के शिष्य थे, इन्होंने शंकराचार्य के शारीरक भाष्य पर 'ब्रह्मविद्याभरण' नामक श्रेष्ठ व्याख्या लिखी है।

५-वाचस्पति मिश्र-

वाचस्पति मिश्र ने भी शांकर-भाष्य पर 'भामती' नामक उत्तम व्याख्या ग्रन्थ लिखा है। 'ब्रह्मतत्त्व समीक्षा' नामक वेदान्त ग्रन्थ भी इन्हीं का है।

६- चित्सुखाचार्य-

तेरहवीं सदी के चित्सुखाचार्य ने वेदान्त का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्व-दीपिका' नाम से लिखा, जिसने उन्हीं के नाम से 'चित्सुखी' के रूप में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की।

७- विद्यारण्य स्वामी-

शृंगेरी पीठ के प्रतिष्ठित यति श्री विद्यारण्य स्वामी ने वेदान्त विषयक कई ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'पंचदशी' का विशेष स्थान है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं- जीवन्मुक्ति विवेक, विवरण प्रमेय संग्रह, बृहदारण्यक वार्तिक सार आदि।

८-प्रकाशात्मा-

इन्होंने पद्मपादकृत पञ्चपादिका पर 'विवरण' नाम की व्याख्या का सृजन किया है। इसी के आधार पर 'भामती प्रस्थान' से पृथक् 'विवरण प्रस्थान' निर्मित हुआ है।

९-अमलानन्द-

अमलानन्द (जो अनुभवानन्द के शिष्य थे) ने भामती पर 'कल्पतरु' नामक व्याख्या एवं ब्रह्मसूत्र पर एक वृत्ति भी लिखी है। इनका अपर नाम 'व्यासाश्रम' था।

१०-अखण्डानन्द-

आनन्दगिरि के शिष्य अखण्डानन्द ने

'पञ्चपादिका विवरण' पर 'तत्त्वदीपन' नामक व्याख्या लिखी है।

११- प्रकाशानन्द-

इन्होंने 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' नामक ग्रन्थ का सृजन किया, जिसमें 'दृष्टि-सृष्टिवाद' का वर्णन है।

१२-मधुसूदन सरस्वती-

इन्होंने सिद्धान्तबिन्दु, अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरत्नलक्षण एवं वेदान्त कल्पलतिका आदि ग्रन्थों का प्रणयन किया।

१३- सदानन्द मुनि-

इन्होंने वेदान्त के छात्रों के लिए अद्वैत वेदान्त के तत्त्वों का सरल शब्दों में विवेचन करने वाला ग्रन्थ 'वेदान्त सार' लिखा है, जो बालमति जिज्ञासुओं के लिए सरल पाठ्य-ग्रन्थ का काम करता है।

इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक वेदान्त के आचार्य हुए हैं, जिनमें प्रत्यक् स्वरूपाचार्य, नृसिंहाश्रम, नृसिंह सरस्वती, गीर्वाणेन्द्र सरस्वती, सदानन्द यति, अप्पय्य दीक्षित, धर्मराजाध्वरीन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जिनके ग्रन्थों से वेदान्त परक साहित्य का भण्डार भरा हुआ है।

इस प्रकार वेदान्त के विभिन्न ग्रन्थों में अद्वैत वेदान्त ब्रह्मसूत्र ही सबका मुकुटमणि सिद्ध होता है। इस पर अनेक आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं। जिनके नाम व काल का विवरण इस प्रकार है-

१. शांकर भाष्य (नवीं सदी), २. भास्कर भाष्य (नवीं सदी), ३. रामानुज भाष्य (बारहवीं सदी), ४. निम्बार्क भाष्य (तेरहवीं सदी), ५. माध्व भाष्य (तेरहवीं सदी), ६. श्रीकण्ठ भाष्य (तेरहवीं सदी), ७. श्रीकर भाष्य (चौदहवीं सदी), ८. वल्लभ भाष्य (पन्द्रहवीं सदी), ९. विज्ञान भिक्षु भाष्य (सोलहवीं सदी), १०. बलदेव भाष्य (अठारहवीं सदी) तथा ११. शक्ति भाष्य (बीसवीं सदी)।

वेदान्त की तत्त्व मीमांसा

वेदान्त दर्शन पारमार्थिक दृष्ट्या एकमात्र तत्त्व ब्रह्म या आत्मा को मानता है। इससे भिन्न जो कुछ भी दृश्यमान है, वह सभी अतत्त्व है। इसे अज्ञान, माया, अवस्तु भी कहा जाता है। तत्त्व के ज्ञान के लिए अतत्त्व का ज्ञान अनिवार्य है।

सत्ता का स्वरूप- शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिकी, प्रातिभासिकी एवं व्यावहारिकी भेद से सत्ता के तीन स्वरूप वर्णित हैं। जिस वस्तु का अस्तित्व तीनों कालों में अबाधित (शाश्वत) हो, वह पारमार्थिक सत् है और ऐसी सत्ता केवल ब्रह्म की ही है। जिस वस्तु के अस्तित्व का प्रतिभास (आभास) मात्र हो, उसकी सत्ता प्रातिभासिकी कहलाती है। जैसे- अँधेरे में रस्सी को देखकर सर्प प्रतिभासित होना; किन्तु दीपक जलने पर प्रकाश में सर्प ज्ञान बाधित हो जाता है, अतः प्रातिभासिकी सत्ता त्रिकाल में अबाधित नहीं है। तीसरी सत्ता व्यावहारिकी है। सांसारिक दशा में जिसके अस्तित्व को व्यवहार-मात्र के लिए सत्य मानते हैं, वह व्यावहारिकी सत्ता है। ब्रह्मज्ञान होने पर ही इस सत्य भावना का विनाश होता है, किसी और प्रकार से नहीं हो सकता।

विवर्त्तवाद- तत्त्व में अतत्त्वों के भान को विवर्त्त कहा जाता है- **'अतत्त्वतोऽन्यथोप्रथा 'विवर्त्त' इत्युदाहृतः।** जैसे- रस्सी में सर्प का आभास होने का मूल कारण अज्ञान है। यहाँ वस्तु रस्सी है और अवस्तु सर्प। अतः सर्प रस्सी का परिणाम न होकर विवर्त्त है। माया (अज्ञान) के कारण ब्रह्म में जगत् का आरोप होता है, अतः सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का

विवर्त्त है। यह भ्रम तत्त्वज्ञान के द्वारा बाधित होता है।

अध्यास- अद्वैत वेदान्त में अनात्मा में आत्मा और आत्मा में अनात्मा की प्रतीति अध्यास कहलाती है। आचार्य शंकर ने अध्यास की परिभाषा देते हुए लिखा है- **स्मृति रूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः** अर्थात् किसी स्थान पर पूर्व में देखे हुए की प्रतीति (स्मृति के आधार पर) ही अध्यास है। रज्जु में सर्प की प्रतीति अध्यास का उदाहरण है। इसी प्रकार शरीर, इन्द्रियादिकों में आत्मा की प्रतीति होना अध्यास है। ब्रह्म निर्विशेष तत्त्व है, सर्वव्यापी और चेतन है, स्वतः सिद्ध है, उसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, तथापि अज्ञान से उत्पन्न भ्रान्ति के कारण जीव उसे समझ नहीं पाता। इसी भ्रान्ति को दूर करना वेदान्त का लक्ष्य है।

अविद्या एवं माया

भ्रान्ति ही वेदान्त की भाषा में अविद्या और माया है। आचार्य शंकर ने तो दोनों को एक ही कहा है; पर परवर्ती आचार्यों विद्यारण्य आदि ने इन्हें पृथक्-पृथक् माना है। उनके अनुसार रज, तम की मलीनता से रहित शुद्ध सत्त्व प्रधाना प्रकृति ही माया तथा मलिन सत्व प्रधाना शक्ति (प्रकृति) ही अविद्या है। माया अपनी दो शक्तियों, आवरण और विक्षेप के द्वारा वस्तु में भ्रान्ति उत्पन्न करती है। आवरण शक्ति के द्वारा माया व्यक्ति की बुद्धि को आच्छादित कर देती है, जिसके कारण वह वास्तविक विराट् तत्त्व को देख नहीं पाता। (जैसे- बादल के छोटे से टुकड़े के आवरण से विराट् सूर्य दृश्यमान नहीं होता।) और विक्षेप शक्ति के द्वारा वह उस वस्तु में दूसरी वस्तु (अवस्तु) की कल्पना करने लगता है। (जैसे- रज्जु में सर्प की कल्पना करना)।

ब्रह्म और उसका लक्षण

अद्वैत वेदान्त में 'ब्रह्म' परम-सत्ता के रूप में विवेचित है, वही समस्त जगत् का मूल कारण है। स्वरूप और तटस्थ भेद से उसके (ब्रह्म के) लक्षण दो प्रकार के बताये गये हैं। स्वरूप लक्षण में जहाँ वस्तु के तात्त्विक रूप का परिचय प्राप्त होता है, कि वह किस प्रकार की है व किस स्वभाव की है, वहीं तटस्थ लक्षण में किसी विशिष्ट गुण के आधार पर वस्तु का विवेचन होता है। श्रुतियों में ब्रह्म का स्वरूप और तटस्थ लक्षण-परक उल्लेख अनेकशः मिलता है। जैसे-

१- **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** (तैत्तिरीयो० २.२.१) के अनुसार ब्रह्म सत्य है मृषा नहीं, ज्ञान-स्वरूप है न कि जड़। वह अनन्त है, जिसका कभी विनाश नहीं होता। २- इसी प्रकार '**अयमात्माब्रह्म**' (बृहदारण्यको० २.५.१९) के अनुसार यह आत्मा ही ब्रह्म है। इस श्रुति से आत्मा और ब्रह्म के ऐक्य का बोध होता है। इनमें ब्रह्म के स्वरूप का लक्षण होने से ये स्वरूप-लक्षण के उदाहरण हैं। ३- **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म।** (तैत्तिरीयो० ३.१.१) अर्थात् जिससे ये प्राणी प्रादुर्भूत होते हैं, जीवित रहते हैं एवं अन्त में उसी में प्रवेश करते हैं, वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण स्वीकार करना उसका तटस्थ लक्षण कहलायेगा।

आत्मा का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त में आत्मा का स्वरूप अनेक प्रकार से विवेचित हुआ है। तत्त्वबोध सूत्र-२१ में आत्मा का स्वरूप इस प्रकार का निर्दिष्ट है- स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों से भिन्न पंचकोशातीत, अवस्थात्रय का साक्षी, चौबीस तत्त्वों का आधार, अविद्या एवं माया से क्रमिक रूप से प्रतीयमान होने वाले जीव एवं ईश्वर से पृथक् जो सच्चिदानन्द स्वरूप वाला निवास करता है, वही आत्मा है। इस प्रकार आत्मा के जो लक्षण सिद्ध होते हैं, वे निम्नवत् हैं-

१- आत्मा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों से भिन्न होता है।

२- आत्मा पंच कोशों से अतीत होता है।

३- आत्मा अवस्थात्रय का साक्षी है।

४- आत्मा चौबीस तत्त्वों का आधार है।

५- आत्मा या ब्रह्म जीव एवं ईश्वर से भिन्न है।

६- आत्मा या ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है।

जगत् का स्वरूप और सृष्टि-प्रक्रिया

माया से अवच्छिन्न चैतन्य ही जगत् का कारण है। माया की दो शक्तियों-आवरण और विक्षेप के कारण ही जगत् की सृष्टि होती है। वस्तुतः माया के द्वारा ब्रह्म ही जगत् के रूप में प्रतिभासित हो रहा है, जो भाव-मात्र होने के कारण प्रतीयमान है। जगत् के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् सृष्टि की प्रक्रिया इस प्रकार है- तमः प्रधान विक्षेप शक्ति से अन्वित ईश्वर से सूक्ष्म-तन्मात्र-रूप आकाश प्रादुर्भूत हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी समुत्पन्न हुई। इन सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है, जिसमें सत्रह पदार्थों का समन्वय रहता है। ये हैं- पंच- ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच- कर्मेन्द्रियाँ, पंच- प्राण, बुद्धि एवं मन। इस सूक्ष्म शरीर से ही पंचीकृत भूतों द्वारा स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। अद्वैत वेदान्त की स्थूल शरीर निर्माण की पंचीकरण प्रक्रिया प्रख्यात है, जिसके अनुसार पंचभूतों में प्रत्येक स्थूल भूत का आधा और शेष चार भूतों का आधा अर्थात् चारों का अष्टमांश-अष्टमांश सम्मिलित रहता है। इसका स्पष्ट अनुपात इस प्रकार है-

पृथ्वी= १/२पृथ्वी+१/८जल+१/८ तेज(अग्नि)+१/८वायु+१/८आकाश।

जल= १/२जल+१/८पृथ्वी+१/८ तेज+१/८वायु+१/८आकाश।

तेज (अग्नि)= १/२तेज+१/८पृथ्वी+१/८जल+१/८वायु+१/८आकाश।

वायु= १/२वायु+१/८पृथ्वी+१/८जल+१/८तेज+१/८आकाश।

आकाश= १/२आकाश+१/८पृथ्वी+१/८जल+१/८तेज+१/८वायु।

वेदान्त में मुक्ति का स्वरूप एवं साधन चतुष्टय

वेदान्त के अनुसार अज्ञान से निवृत्ति ही मुक्ति या मोक्ष है। जीव स्वभावतः शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त है; किन्तु अविद्या के आवरण के कारण वह अपने को बद्ध अनुभव करता है। गुरु के उपदेश से वह अपने वास्तविक स्वरूप को जानकर मुक्त हो जाता है। इस तथ्य को प्रकट करता वेदान्त का

यह वाक्य प्रख्यात है **'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः'** अर्थात् ययार्थ ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं होती। मुक्ति के स्वरूप के स्पष्टीकरण हेतु वेदान्ती एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण देते हैं, जिसके गले में तो कीमती हार है; किन्तु वह अज्ञानतावश उसे खोजने के लिए इधर-उधर भटकता है, किसी विज्ञ पुरुष द्वारा वस्तुस्थिति का बोध कराये जाने पर वह सत्य को जान जाता है और उस हार को पाकर प्रसन्न हो जाता है। वेदान्त में मुक्ति भी यही है। अज्ञान के फल - स्वरूप उत्पन्न लोभ - मोह, अहंकार से ज्ञान द्वारा मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है।

मुक्ति के दो प्रकार हैं- जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति। शरीर के रहते जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह जीवन्मुक्ति है और देहत्याग के पश्चात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त होना विदेह मुक्ति कहलाती है। अद्वैत वेदान्त में अपने सच्चे (सत्, चित्, आनन्द) स्वरूप में स्थित हो जाना ही साधना का उद्देश्य है। वेदान्त में यह साधना ही साधन- चतुष्टय के नाम से जानी जाती है। जिनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

१- **नित्यानित्यवस्तुविवेक** (ब्रह्म- ही त्रिकाल- सत्य एवं जगत् मिथ्या है, यह ज्ञान होना)

२- **इहामुत्रफलभोगविराग** (लोक- परलोक में मिलने वाले फल- भोग से वैराग्य)

३- **शमादिषट्कसम्पत्ति** (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान- इन छः सम्पदाओं को प्राप्त करना)

४- **मुमुक्षुत्व** (संसार के दुःखों से निवृत्ति की तीव्र आकांक्षा)।

प्रमाण विमर्श

वेदान्त दर्शन में भी अन्य दर्शनों की तरह प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम (शब्द), अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि (अभाव) - ये छः प्रमाण मान्य हैं; किन्तु वेदान्त का प्रमुख विषय 'ब्रह्म' होने के कारण वह आगम (श्रुति या शब्द) प्रमाण को ही सर्वाधिक महत्त्व देता है; क्योंकि ब्रह्म के विषय में श्रुति में जो कहा गया है, वही सबसे अधिक प्रामाणिक है। वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के तृतीय सूत्र में ब्रह्म के अस्तित्व की सिद्धि के लिए शास्त्र (वेद) को ही प्रमाण माना गया है- **'शास्त्रयोनित्वात्'** अर्थात् शास्त्र के योनि- कारण अर्थात् प्रमाण होने से ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।

वेदान्त दर्शन में स्थान-स्थान पर मन्त्र, श्रुति, स्मृति का प्रमाणरूपेण उल्लेख हुआ है। एक विद्वान् के अनुसार वेदान्त में शब्द प्रमाण के सन्दर्भ में मन्त्र से वेद, श्रुति से उपनिषद् और स्मृति से गीता आदि अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों का अभिप्राय लिया गया है। बादरायण (व्यास) के लिए यदि किसी विषय में श्रुति या शब्द का प्रमाण उपलब्ध है, तो और अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं। इसीलिए किसी प्रकरण में जो कहना आवश्यक है, उसे कहने के पश्चात् वे कह देते हैं कि ऐसा श्रुति अथवा स्मृति में देखा जाता है, इसलिए भी यह सत्य है। इस प्रकार वेदान्त में शब्द प्रमाण ही सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है।

वेदान्त का उद्देश्य और उसकी उपयोगिता

समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों का सारांश वेदान्त है। इसका उद्देश्य जगत् और इसके मूल कारण ब्रह्म का अन्वेषण है एवं संसार की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करना है। अभी तक

अधिकांश जन सांसारिक वैभव, इन्द्रियजन्य सुखों या धर्म-कर्म के माध्यम से स्वर्गिक सुखों की प्राप्ति को ही सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ मानते हैं; परन्तु वेदान्त का मन्तव्य है कि ये समस्त सुख अस्थायी हैं। यदि स्थायी सुख-शान्ति अभीष्ट है, तो वह आध्यात्मिक ज्ञान अथवा ब्रह्म विद्या द्वारा ही संप्राप्य है- ब्रह्मविद्या सर्वविद्या प्रतिष्ठाम्।

अन्य मत-मतान्तर जहाँ एक-एक अङ्ग की साधना करने पर बल देते हैं, वहीं वेदान्त मूल-तत्त्व के परिज्ञान पर जोर देता है, जिसके ज्ञान के पश्चात् कुछ और जानना शेष नहीं रह जाता। इसी कारण जहाँ अन्य मत-मतान्तरों में अपने मत की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में विवाद होते हैं, वहाँ वेदान्त के सन्दर्भ में ऐसे विवादों के लिए कोई स्थान नहीं है। श्रृंगेरी पीठ के शंकराचार्य स्वामी नरसिंह भारती ने अपने एक शिष्य को दिये तीन उपदेशों में कहा था-

१- वेदान्त समस्त प्राणियों के सुख की कामना एवं साधना करता है।

२- वेदान्त किसी धार्मिक या दार्शनिक सम्प्रदाय से विरोध नहीं करता।

३- वेदान्त तत्त्व के अन्तर्गत अन्यों से विवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। यह दुनिया के किसी व्यक्ति अथवा विचार परम्परा पर विजय पाने की कोशिश नहीं करता, कारण यह है कि यह समस्त विचारों को अपना ही अंग-अवयव मानता है।

वेदान्त की निरपेक्षता और सर्वकल्याणप्रियता को स्वीकार कर लेने पर भी अनेक लोग उसकी उपयोगिता पर शंका करते हुए कहते हैं कि वेदान्त सिद्धान्त को समझ लेने पर भी व्यक्ति को प्रकृति के उन्हीं नियमों का अनुगमन करना होता है, जिनका अनुगमन संसार के अन्य सामान्यजन किया करते हैं और उसी प्रकार कर्मफल भी भुगतना पड़ता है, जैसे अन्य लोगों को भुगतना पड़ता है, तब इसकी उपयोगिता क्या है? इस सन्दर्भ में यह तथ्य ज्ञातव्य है कि वेदान्तानुगामी व्यक्ति बाह्य दृष्टि से देखने में तो अपने समस्त सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करते हुए वह सामान्य व्यक्तियों के समान ही प्रतीत होता है; परन्तु आन्तरिक रूप से वह इन सभी बातों से अलिप्त रहता है। निःस्वार्थता के कारण सुख-दुःख, हानि-लाभ एवं सफलता-असफलता का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वेदान्तानुगामी होने के कारण वह अपने समस्त कर्त्तव्यों का परिपालन अधिक उत्तमता से करता है। अतः जो ऐसा सोचते हैं कि वेदान्तानुशीलन से कोई लाभ नहीं अथवा यह वैरागी-संन्यासियों के लिए ही उपयुक्त है, तो उनका यह सोचना उचित नहीं है। वस्तुतः वेदान्तानुशीलन मानव के समक्ष जीवन एवं जगत् के मूल स्वरूप को प्रकट कर देता है, जिसके कारण वह मिथ्या मोह एवं आसक्ति से विमुक्त हो जाता है। फलतः वह जो कुछ भी करता है, वह अपना धर्म अथवा कर्त्तव्य समझकर सच्चे हृदय से ही करता है। इस प्रकार वेदान्तानुगामी व्यक्ति सामान्य व्यक्ति की तुलना में हर प्रकार से उत्तम और समाज के लिए भी हितकारी होता है।

वेदान्त का वैलक्षण्य

अनेक दृष्टियों से वेदान्त अन्य दर्शनों की अपेक्षा अद्भुत और विलक्षण है। उसकी विभिन्न विलक्षणता में एक यह है कि वह किसी भारतीय अथवा विदेशी धर्म को दूसरे का धर्म नहीं कहता। उसकी दृष्टि में मनुष्य-मात्र एक ही ब्रह्म का अंश होने के कारण वह सबको आत्ममय देखता और किसी से विरोध नहीं करता है। इसी कारण थोड़े-थोड़े सिद्धान्तान्तर से बने वेदान्त के

ही अवान्तर सम्प्रदाय सब इसी में समाविष्ट हो जाते हैं। ये हैं- **१. शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त, २. रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदान्त, ३. निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत (भेदाभेद) वेदान्त, ४. मध्वाचार्य का द्वैत वेदान्त, ५. वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत वेदान्त, ६. चैतन्य का अचिन्त्य भेदाभेदवेदान्त**। इन छः प्रमुख वेदान्त मतों के अतिरिक्त विवेकानन्द का व्यावहारिक वेदान्त भी प्रसिद्ध है। इन सभी का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

१. अद्वैत वेदान्त- अद्वैत का अर्थ है-दूसरा नहीं। इसके प्रतिपादक आद्य शंकराचार्य का मत है कि इस जगत् में नेत्रों से दृश्यमान कुछ भी सत्य नहीं है। इस समस्त जगत् प्रपञ्च में यदि कुछ सत्य है, तो वह एकमात्र ब्रह्म की चैतन्य सत्ता है, जीव पृथक् नहीं, वह ब्रह्म ही है, इसलिए वे कहते हैं- **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।'** इस जगत् की उत्पादिका और विनाशिका माया (अविद्या) है, जो अनिर्वचनीय है।

२. विशिष्टाद्वैत वेदान्त- इसके प्रतिपादक रामानुजाचार्य हैं। इनके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त जीव एवं जड़ जगत् अर्थात् चित् एवं अचित् भी नित्य और स्वतन्त्र तत्त्व हैं। यह सत्य है कि ये भी ब्रह्म के अंश हैं और ब्रह्म की विशेषता स्वरूप हैं, जो प्रलय के समय तो ब्रह्म के अन्दर सूक्ष्मरूपेण रहते हैं, किन्तु विश्व की उत्पत्ति के समय स्थूल रूप में प्रकट हो जाते हैं। इसी कारण इसका नाम विशिष्टाद्वैत वेदान्त सिद्धान्त रखा गया है। इस सिद्धान्त में एक विशिष्ट बात यह भी है कि इसका ब्रह्म सगुण है, वह निर्गुण हो ही नहीं सकता। इसी कारण रामानुज शरणागति को ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन स्वीकार करते हैं।

३. द्वैताद्वैत (भेदाभेद) वेदान्त- निम्बार्काचार्य-प्रतिपादित इस सिद्धान्त में ईश्वर और जीव में एक प्रकार से अभेद के साथ ही अन्य प्रकार से भेद भी है। ब्रह्म कारण है एवं अनन्त शक्तियों वाला है। वह अपने स्वभाव से ही निज की चित् और अचित् शक्तियों का प्रसार करते हुए चित् और अचित् रूप जगत् के स्वरूप में स्वतः परिणत हो जाता है और अपने वास्तविक रूप में निर्विकार भी बना रहता है। इस प्रकार चित्-अचित् रूप जगत् जो ब्रह्मरूप कारण का कार्य है, वह अपने कारण (ब्रह्म) से भिन्न भी है और अभिन्न भी। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म प्रत्येक स्थिति में जीव का नियामक है, उसे सदैव उसी की प्रेरणानुसार चलना पड़ता है। जीव का उद्धार ईश्वरीय अनुग्रह पर ही निर्भर है। इस मत में भी ब्रह्म का सगुण रूप ही मान्य है।

४-द्वैत वेदान्त- मध्वाचार्य प्रवर्तित माध्व मत द्वैत वेदान्त कहलाता है। इसके अनुसार सत्य ईश्वर से उत्पन्न जगत् मिथ्या नहीं हो सकता। मध्व के अनुसार श्रीहरि (विष्णु) ही परम तत्त्व एवं जगत् सदा सत्य है। जीव एवं परमात्मा के मध्य का भेद वास्तविक है। उनकी दृष्टि में परमात्मा स्वामी है एवं जीव उसका सेवक है। शाश्वत सुख की अनुभूति ही मुक्ति एवं उस अनुभूति तक पहुँचने का साधन ही भक्ति है।

५-शुद्धाद्वैत वेदान्त- इसके प्रतिपादक वल्लभाचार्य माया को पूर्णतः अस्वीकार करके एकमात्र ब्रह्म को ही शुद्ध तत्त्व मानते हैं। जीव और जगत् का प्रादुर्भाव ब्रह्म से ही होता है। अपनी इच्छानुसार ही ब्रह्म गुणों सहित ईश्वर के रूप में प्रकट होता है और इन्हीं गुणों से जीव और जगत् का सृजन करता है। यों तो ईश्वर सत्, चित् और आनन्दमय है, पर उसमें आनन्द तत्त्व का प्राधान्य रहता है। ईश्वर सत् और चित् दो ही तत्त्वों से जीव का सृजन करता है, इसलिए उसमें (जीव में) ये दो तत्त्व ही रहते हैं। जीव की सृष्टि के

समय वह आनन्द तत्त्व को तिरोहित कर देता है। ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति और संहार लीला के रूप में करता है।

६- अचिन्त्य-भेदाभेद वेदान्त- इसके प्रवर्त्तक मध्वाचार्य के शिष्य चैतन्य महाप्रभु हैं। अन्य वैष्णव-वेदान्त सम्प्रदायों के समान अचिन्त्य भेदाभेद वेदान्त भी जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करता है, साथ ही आचार्य शंकर के मायावाद का खण्डन भी करता है। इस मत के अनुसार चित् एवं अचित् इन दो शक्तियों से समन्वित ब्रह्म कारण अवस्था में सूक्ष्म शक्ति वाला और कार्यावस्था में स्थूल शक्तिवाला कहलाता है। चित्-अचित् शक्तियाँ अपने शक्तिवान् ब्रह्म से स्वरूपतः एक हैं, तथापि स्थूलावस्था में उससे भिन्न भी हैं। यह भेद और अभेद अचिन्त्य है। कारण यह है कि परमेश्वर की अचिन्त्य शक्ति द्वारा ही ऐसी स्थिति बनती है। इसी कारण इस वेदान्त मत का नाम अचिन्त्य-भेदाभेद वेदान्त रखा गया है। अस्तु इस मत में ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। अपनी सूक्ष्म शक्ति की स्थिति में कारण तथा स्थूल स्थिति में कार्य भी वही है। इसलिए कार्य-कारण अनन्यत्ववाद ही मान्य है। इसमें एक विशेषता यह है कि उपास्य ब्रह्म एवं उसकी शक्ति को लक्ष्मी-नारायण के ऐश्वर्य रूप के स्थल पर कृष्ण एवं राधा के माधुर्य-रूप को माना गया है। इसमें प्रेमरूपा भक्ति को ही मान्यता दी गयी है। ब्रह्म की प्रथम शक्ति - चित् शक्ति, दूसरी जीव शक्ति तथा तीसरी माया शक्ति है, जिसे बहिरंग शक्ति भी कहा जाता है।

इनके अतिरिक्त स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित व्यावहारिक वेदान्त भी है, जो जन-सामान्य के लिए नितान्त उपयोगी है।

व्यावहारिक वेदान्त

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक स्वामी विवेकानन्द का मानना था कि अद्वैत वेदान्त केवल सिद्धान्त में-कथन मात्र में है। 'सबमें ईश्वर और ईश्वर में सब कुछ' आदि मानने के लिए नहीं है, वरन् जीवन में प्रयोग करने के लिए है। लाइफ ऑफ विवेकानन्द पृ० २१९ पर रोम्याँ रोलॉ, विवेकानन्द का व्याख्यान उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि *वेदान्त का ज्ञान दीर्घकाल से गुफाओं एवं वनों में छिपा रहा है। यह भार मेरे ऊपर पड़ा है कि मैं उसे उसके अज्ञातवास से निकालूँ एवं उसे पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में पहुँचाऊँ।...... अद्वैतवाद का ढोल सभी स्थानों में-बाजारों में, पर्वतों में एवं मैदानों में गूँजेगा।*

विवेकानन्द के अनुसार त्रिकाल बाधित होने के कारण ब्रह्म परम सत्य है, पर जगत् ब्रह्म के समान निरपेक्ष सत्य नहीं है। कारण कि उसकी सत्ता तीनों कालों में अखण्डित नहीं रहती। अतः जगत् मिथ्या न होकर सत्य तो है, पर स्वतन्त्र रूप से परम सत्य नहीं है। ब्रह्म पर आधारित होने से ही उसे सत्य माना जा सकता है। उनकी दृष्टि में माया शब्द का अर्थ जगत् को पूर्ण भ्रम निरूपित करना नहीं, वरन् यह है कि जगत् अन्तर्विरोधों से युक्त है और इसी सीमा तक उसे अयथार्थ अथवा मिथ्या कहा जा सकता है। विवेकानन्द का व्यावहारिक वेदान्त कर्मवाद का समर्थक है। वे 'प्रेक्टिकल वेदान्त भाग-१' में कहते हैं- *वेदान्त हमसे यह नहीं कहता कि हम अपने को असहाय मानकर अत्याचारी के सामने घुटने टेक दें। वह कहता है अपना मस्तक ऊँचा करो। तुममें से हर व्यक्ति के भीतर एक ईश्वर विद्यमान है।* इस प्रकार विवेकानन्द का व्यावहारिक वेदान्त शंकर के अद्वैत वेदान्त का बुद्धिगम्य,

वैज्ञानिक, प्रेरणाप्रद और कर्मवादी स्वरूप है।

वेदान्त का धर्म विलक्षणरूपेण विश्व धर्म है। कारण यह है कि यह मूलतः किसी एक व्यक्ति द्वारा संचालित नहीं है। (यह बात अलग है कि इसके अवान्तर भेदों का प्रवर्तन करने वाले आचार्यों के परिचय की दृष्टि से उनके नामों का उल्लेख किया जाता है, पर वे मूल वेदान्त के जनक नहीं हैं।) किसी धर्म के विश्व धर्म होने का लक्षण यह है कि उसे 'अवैयक्तिक' होना चाहिए अर्थात् वह किसी व्यक्ति द्वारा चलाया हुआ नहीं होना चाहिए। जो धर्म किसी व्यक्ति द्वारा चलाया हुआ होता है, वह विश्व धर्म के लक्षणों से समन्वित नहीं हो सकता। जो धर्म किसी व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित होता है, उसके समर्थक या अनुयायी उसके प्रवर्तक के व्यक्तित्व से बद्ध होकर, उसी को सर्वोपरि मानते हैं तथा किसी और धर्म का आदर नहीं करते। ईसाई, इस्लाम, बौद्ध आदि इसी प्रकार के धर्म हैं, जो अपनी संकीर्णता के दायरे में बँधे रहकर युगानुकूल सिद्धान्तों को स्वीकार न करके **बाबावाक्यं प्रमाणम्** का राग अलापते हैं, जब कि हमारे प्रातिभचक्षु ऋषियों ने अति प्राचीनकाल में ही अपने चिन्तन वैराट्य का परिचय देते हुए यह घोषणा कर दी थी- **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।** (ऋ० १.१६४.४६) अर्थात् सत्य एक ही है, ज्ञानीजन उसका अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

वेदान्त के प्रमुख आचार्य बादरायण (व्यास) माने जाते हैं; क्योंकि उन्होंने उसे एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में सूत्र रूप में गढ़कर व्यवस्थित ढंग से सजाया। वास्तव में वेदान्त तो आदिकाल से चला आ रहा है। **वेदों, उपनिषदों में** अनेक स्थलों पर वेदान्त के सिद्धान्तों का दर्शन किया जा सकता है। ऋग्वेद की यह ऋचा तो वेदान्त का आधार ही मानी गयी है- **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्.................... मातरिश्वानमाहुः** (ऋ० १.१६४.४६) इसी तथ्य को प्रकट करती ऋग्वेद की ही एक अन्य ऋचा द्रष्टव्य है- **हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृत सद्व्योम-सदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्॥** (ऋग्वेद ४.४०.५) अर्थात् यह हंस स्वरूप आत्मा ही सूर्य स्वरूप होकर द्युलोक में वास करता है। समस्त प्राणियों के निवास का साधन बनकर वायु रूप होकर अन्तरिक्ष में परिभ्रमण करता है, अग्नि के रूप में ही वेदी में स्थित होता है, सोमरस के रूप में कलश में आपूरित किया जाता है। वही आत्मा मनुष्यों, देवों एवं पक्षियों में विद्यमान है, उसी का निवास जलचरों, वृक्षों और पर्वतादि में है। वस्तुतः वही आत्म तत्त्व, ऋतस्वरूप परमात्म-तत्त्व है। ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में ऋषि वामदेव विश्व की विभिन्न विभूतियों को अपना ही स्वरूप बताते हुए वेदान्त के अद्वैत तत्त्व का निरूपण करते हैं-

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥ (ऋ० ४.२६.१)

वेदों में वर्णित वेदान्त की ज्ञान-धारा उपनिषदों में भी प्रवाहित हुई। श्वेताश्वतर उपनिषद् १.१२-१६ में परमात्मा, जीव और प्रकृति को एकमेव ब्रह्म ही निरूपित किया गया है। इसके अतिरिक्त इसी उपनिषद् में अन्यत्र तथा कठोपनिषद् में भी परमात्मा को इन आँखों द्वारा न देखे जाने एवं व्यक्ति के हृदय में निवास करने वाला निरूपित किया गया है-

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ (श्वेता० ४.२०,

कठ० ३.२.९) कठोपनिषद् की एक अन्य श्रुति में परमात्मा को समस्त जीवों में निवास करने वाला बताकर उनके (जीवों के) सुख-दुःख से अलिप्त रहने वाला बताया गया है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

(कठ० २.२.११)

इस प्रकार वेदान्त दर्शन का आदि स्रोत वेद हैं, जहाँ से निःसृत होकर उसकी ज्ञान-धारा उपनिषदों, गीता, रामायण आदि समस्त आर्ष ग्रन्थों में प्रवाहित हुई है। वेदान्त दर्शन वैयक्तिक और एकदेशीय नहीं है। वह समस्त धर्मों के सार-तत्त्व को अपने में समेटे हुए है एवं उन्हें अपने निकट ही उचित आसन पर स्थान देता है, उसमें संसार के सभी धर्मों तथा दार्शनिक मतों का समावेश हो जाता है। पाश्चात्य देशों के प्लेटो, स्पिनोजा, काण्ट, हेगल, इमर्सन एवं स्पेन्सर आदि विद्वानों के दार्शनिक सिद्धान्तों का समर्थन वेदान्त द्वारा करना शक्य है। इन्हीं सब विलक्षणताओं के कारण वेदान्त दर्शन जगत् में सिरमौर माना जाता है।

इस प्रकार वेदान्त ऐसा शास्त्र है, जिसका अनुगमन करके विश्व का कोई भी व्यक्ति सबमें अपना आत्म दर्शन करते हुए सबके साथ मैत्रीपूर्वक और स्नेहपूर्ण व्यवहार करता रहकर, न केवल अपने इहलौकिक जीवन को आनन्दपूर्ण बना सकता है, वरन् पुरुषार्थ चतुष्टय के अंतिम चरण मोक्ष को भी प्राप्त करके जीवन को धन्य बना सकता है।

अन्ततः मुण्डकोपनिषद् (३.२.६) के अनुसार यही कहा जा सकता है कि 'जो वेदान्त ज्ञान द्वारा परमेश्वर को जान चुके हैं और संन्यास तथा योग के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण वाले हो चुके हैं, ऐसे साधक शरीर त्यागने पर ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और परम अमृतत्व का अनुभव करके मुक्तात्मा बन जाते हैं-

वेदान्त - विज्ञान-सुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

॥ अथ वेदान्तदर्शनम् ॥

॥ अथ प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ॥

महर्षि वेदव्यास प्रणीत वेदान्त दर्शन में लघुकाय सूत्रों (शब्दों) में सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड के नायक सर्वशक्तिमान् परब्रह्म के स्वरूप का शास्त्र-समन्वय एवं साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन किया गया है। इसी कारण इस शास्त्र का नाम ब्रह्मसूत्र पड़ा। वेद (ज्ञान) की चरमावस्था का बोध (साक्षात्कार-दर्शन) कराने के कारण इसे वेदान्त दर्शन भी कहा गया है। सूत्रकार ने इस शास्त्र को चार अध्यायों एवं सोलह पादों में निरूपित किया है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत आचार्य ने कहा है कि समस्त वेदान्त-सूत्रों का एकमात्र प्रतिपाद्य जगन्नियन्ता है।

भगवान् वेदव्यास जी ने उस परमात्म तत्त्व का साक्षात्-दर्शन कराने की इच्छा से इस शास्त्र का शुभारम्भ करते हुए जन समुदाय (अनुयायियों) के समक्ष प्रथम सूत्र प्रस्तुत किया—

(१) अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ॥१ ॥

सूत्रार्थ— अथ = अब (शास्त्रों के अध्ययन तथा पुण्यकर्मों के अनुष्ठान आदि से जिज्ञासु का अन्त:करण शुद्ध हो जाने पर),अत: = यहाँ से, ब्रह्मजिज्ञासा = ब्रह्म को जानने की इच्छा का विवेचन किया जाता है।

व्याख्या— मानव देह में आने के पश्चात् जीव को सांसारिक विषय भोगों की कामना स्वभावत: होती है। उन भोग प्राप्ति रूपी कर्मों (यज्ञ-यागादि अनुष्ठान) के बाद जब गुरुकृपा से मोह-ममता का आवरण हटता है, तब यह ज्ञात होता है कि ये समस्त मोह-ममता रूपी कर्मों के भोग-नाशवान् हैं। ऋषि कहते हैं कि तभी से ज्ञानी पुरुष ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हुए कहता है कि ब्रह्म कौन है ? इसका स्वरूप क्या है ? वेदान्त में इस ब्रह्म जिज्ञासा सम्बन्धी तथ्यों की इस शास्त्र में विवेचन-समीक्षा (मीमांसा) प्रारम्भ की जाती है।

उपर्युक्त सूत्र में जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा व्यक्त की गई है, अब अगले सूत्र में उसी का लक्षण सूत्रकार बतलाते हैं—

(२) जन्माद्यस्ययत: ॥२ ॥

सूत्रार्थ— जन्मादि = जन्म आदि अर्थात् (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय), अस्य = इस (जगत्) के, यत: = जिससे (होते हैं, वही ब्रह्म है)।

व्याख्या— सर्वसाधारण के देखने, श्रवण करने और अनुभव में आने वाले इस जगत् के जन्म आदि अर्थात् उत्पत्ति- रचना, स्थिति एवं प्रलय जिनके द्वारा होती है तथा जो सर्वशक्तिमान् सत्ता प्रलय के अन्त में सम्पूर्ण विश्व को अपने में लीन कर लेती है, वही परमात्मा-ब्रह्म है।

प्रस्तुत सूत्र का निर्देशन अदृश्य ब्रह्म के अस्तित्व को समझाने के लिए किया गया है। किसी के अस्तित्व को लक्षण एवं प्रमाण से ही पुष्ट किया जाता है। लक्षण के दो भेद होते हैं- प्रथम लक्षण का नाम तटस्थ और द्वितीय का नाम स्वरूप लक्षण। यहाँ सूत्र में ब्रह्म का तटस्थ लक्षण बतलाया गया है। यह जगत् उत्पन्न होने वाला पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ जिसका अस्तित्व है, उसका कोई न कोई उत्पत्ति-कर्त्ता निश्चित

होता है तथा वह चैतन्यमय भी अवश्य होगा। जैसे- घड़े का निर्माता कुम्भकार तथा कटक-कुण्डल आदि का निर्माता सुवर्णकार होता है। इस प्रकार से प्रादुर्भूत होने वाले इस विश्व ब्रह्माण्ड का उत्पत्ति-कर्त्ता अवश्य होना चाहिए। प्रादुर्भूत होने वाली वस्तु एक निश्चित समय के बाद नष्ट भी हो जाती है, अत: इस जगत्- की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का जो नियामक चेतन तत्त्व है, वही बह्म है। ब्रह्म का यह लक्षण (सर्वशक्तिमत्ता, जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय का गुण आदि) तटस्थ लक्षण कहा जायेगा॥२॥

आर्ष ग्रन्थों में ब्रह्म को अकर्त्ता, अभोक्ता, अव्यक्त, अचिन्त्य आदि विशेषणों से युक्त कहा गया है। इसलिए यहाँ पर शङ्का होती है कि उसे इस जगत् की जन्मादि -उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण कैसे मान लिया गया ? इसी सम्बन्ध में अगले सूत्र में ऋषि कहते हैं—

(३) शास्त्रयोनित्वात्॥३॥

सूत्रार्थ— शास्त्र = शास्त्र (वेद) में उस ब्रह्म को जगत् का, योनित्वात् = कारण कहा गया है। इसलिए ब्रह्म के अस्तित्व का बोध होने से उसे जगत् का कारण मानना ठीक है।

व्याख्या— वेदादि आर्षग्रन्थों में उस ब्रह्म को जगत् का कारण बतलाया गया है; क्योंकि समस्त वेद-शास्त्र उस ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। वेदार्थ का चिन्तन करने पर नश्वर एवं नित्यवस्तु का शनैः-शनैः सद्ज्ञान होने लगता है। सद्ज्ञान की प्राप्ति होने पर सांसारिक कर्मों एवं विषय भोगों से धीरे-धीरे विराग और ब्रह्म प्राप्ति में सन्निकटता होने लगती है। शास्त्रों में जिस ब्रह्म को सत्य, ज्ञान, अनन्त आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है, उसे जगत् का सर्जन करने वाला भी कहा गया है। अत: वेद-शास्त्र ही ब्रह्म के लक्षण में सटीक प्रमाण हैं॥३॥

मिट्टी आदि से घट आदि की सर्जना करने वाले कुम्भकार आदि की भाँति ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण बतलाना तो उचित है; किन्तु उसे उपादान कारण कैसे माना जा सकता है ? इसका समाधान अगले सूत्र में करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(४) तत्तु समन्वयात्॥४॥

सूत्रार्थ— तत् = वह (ब्रह्म), तु = तो, समन्वयात् = शास्त्रों के समन्वय से सिद्ध है कि सम्पूर्ण विश्व में पूर्णरूप से संव्याप्त होने से उपादान भी है।

व्याख्या— जिस प्रकार से अनुमान प्रमाण एवं ऋग्वेदादि शास्त्र प्रमाण के समन्वय से यह सिद्ध होता है कि इस विचित्र जगत् एवं शास्त्रादि का कारण वह ब्रह्म ही है, उसी प्रकार यह भी सिद्ध है कि वह ब्रह्म ही इसका उपादान कारण भी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक अणु में भी वह ब्रह्म स्थित है; क्योंकि वह इस विश्व में पूरी तरह से अनुगत (संव्याप्त) है। प्रत्येक अणु उससे अलग नहीं है। अत: वह (ब्रह्म) इस जगत् का रचने वाला होने के साथ -साथ रचना करने का साधन भी है। गीताकार ने भी अ. १०/३९ एवं अ. ९/४ में कहा है कि चर या अचर, जड़ या चेतन दोनों में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है, जो मुझसे अलग हो अथवा मैं उसमें न होऊँ। यह सम्पूर्ण विश्व मुझसे व्याप्त है। उपनिषदों ने भी जगह-जगह पर कहा है कि वह ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् के कण-कण में संव्याप्त (तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्) है॥४॥

**** यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'समन्वयात्' का सामान्य अर्थ शास्त्र-समन्वय से है; किन्तु अच्छा हो, इसे सृष्टि समन्वय से जुड़ा माना जाए। सृष्टि के विभिन्न उपादानों (जड़-चेतन, ग्रह-नक्षत्र इत्यादि) के बीच जो सन्तुलन-समन्वय बना हुआ है, वह ब्रह्म का ही प्रमाण है।***

व्याप्ति रूप हेतु से जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को ही क्यों माना जाए ? प्रकृति को क्यों न मानें ? इसी का समाधान अगले सूत्र में ऋषि करते हैं—

(५) ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥५ ॥

सूत्रार्थ— ईक्षते: = ईक्षण क्रिया द्वारा, अशब्दम् = शब्द प्रमाणरहित प्रधान (त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति), न = जगत् का कारण नहीं है।

व्याख्या— ब्रह्म की ईक्षण-संकल्प क्रिया के द्वारा यह प्रमाणित होता है कि ईश्वर अशब्द-अप्रमाण नहीं है। उपनिषदों में सृष्टि-प्रसङ्ग के क्रम में 'ईक्ष' धातु के क्रिया प्रयोग मिलते हैं। छा.उ. ६/२/३ में देखें- **'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।'** अर्थात् उस सत् ने ईक्षण-संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। इसी तरह ऐतरेय उपनिषद् में देखें- **'स ईक्षत लोकान्नु सृजै'** (ऐत. उ. १/१/१) अर्थात् उस (सत्) ने ईक्षण-संकल्प किया कि मैं लोकों की रचना करूँ; किन्तु त्रिगुणात्मिका प्रकृति जड़ है, उसमें ईक्षण या संकल्प शक्ति का अभाव है; क्योंकि वह ईक्षण चैतन्य तत्त्व का लक्षण है। अत: शब्द प्रमाण से रहित जड़ प्रकृति को जगत् का उपादान कारण नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार उक्त औपनिषदिक प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि वेद का कारण रूप ब्रह्म ईक्षण-संकल्पवान् है, शब्द रहित या जड़ नहीं है। अत: ब्रह्म का शब्द रूप होना पूर्ण रूपेण सिद्ध है ॥५ ॥

यहाँ यह आशंका हो सकती है कि यदि गौण रूप से ईक्षण क्रिया जड़-प्रकृति के साथ हो सकती है, तो विश्व रचना वाले ब्रह्म को जड़ ही क्यों न मान लिया जाए? इसी आशंका का समाधान सूत्रकार दे रहे हैं—

(६) गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६ ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि ऐसा कहें कि, गौण: = गौण वृत्ति से ईक्षण का प्रयोग (प्रकृति के लिए) हुआ है, न = तो यह उचित नहीं, आत्मशब्दात् = क्योंकि वहाँ 'आत्म' शब्द का प्रयोग हुआ है।

व्याख्या— त्रिगुणात्मिका जड़-प्रकृति के साथ ईक्षण क्रिया (संकल्प) का प्रयोग मानना उचित नहीं है; क्योंकि आर्षग्रन्थों में ईक्षण क्रिया के साथ-साथ 'आत्म' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। प्रकृति को 'आत्मा' नहीं कहा जा सकता। उपर्युक्त पाँचवें सूत्र में उद्धृत् की हुई छान्दोग्य एवं ऐतरेय की श्रुति में ईक्षण का कर्त्ता आत्मा को कहा गया है। अत: गौण-वृत्ति से भी उसका संसर्ग प्रकृति के साथ कदापि संभव नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रकृति को जगत् का कारण स्वीकार करना शास्त्रानुकूल संभव नहीं है। छान्दोग्य में उल्लेख मिलता है- 'तत्तेजोऽसृजत' अर्थात्- उस ब्रह्म ने तेज की सर्जना (रचना) की। आगे पुन: कहा है कि उस देव (ब्रह्म) ने इच्छा-विचार किया कि इन तीनों देवों (तेज, जल, अन्न) में इस जीवात्मा के सहित प्रवेश करके नाम एवं रूप को प्रकट करूँ। यदि प्रकृति के लिए ऐसा कहा गया होता, तो उसे अपने संकल्प का अनुभव ही नहीं होता। अत: ब्रह्म को जड़-प्रकृति नहीं माना जा सकता ॥६ ॥

ब्रह्म के चित्-स्वरूप होने में सूत्रकार एक अन्य हेतु अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(७) तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥७ ॥

सूत्रार्थ— तत् = उस (ब्रह्म) में, निष्ठस्य = निष्ठा रखने वाले की, मोक्षोपदेशात् = मुक्ति प्राप्ति का उपदेश कहा गया है।

व्याख्या— उस (ब्रह्म) में पूर्णरूपेण निष्ठा रखने वाले आत्मज्ञानी को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार का उपदेश वेद-शास्त्रों में होने से ज्ञात होता है कि ब्रह्म चित्स्वरूप है।

जो साधक उस अविनाशी ब्रह्म में अटूट निष्ठा रखता है, वही सच्चा मुक्ति प्राप्ति का अधिकारी होता है; क्योंकि प्रकृति में निष्ठा रखने वालों को मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है। यदि ब्रह्म चेतना शून्य होता, तो उसके प्रति निष्ठा रखने वाले को मोक्ष का उपदेश कभी न दिया जाता। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले साधक की मुक्ति निश्चित है। यजुष् ३१/१८ में भी वर्णन मिलता है कि उस ब्रह्म पुरुष को जानकर ही

मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धन काटकर मुक्त हो जाता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए इसके अतिरिक्त अन्य और कोई मार्ग नहीं है। जो उस ब्रह्म को जान लेता है,उसे मृत्यु का भय नहीं होता। अत: 'आत्मा' शब्द प्रकृति वाची नहीं है। इसी कारण प्रकृति जगत् का कारण नहीं, ब्रह्म ही जगत् का मूल कारण है ॥७॥

'आत्मा' शब्द प्रकृति-वाची नहीं हो सकता। इसी की पुष्टि के लिए एक और हेतु सूत्रकार सूत्रित कर रहे हैं—

(८) हेयत्वावचनाच्च ॥८॥

सूत्रार्थ— हेयत्त्व = त्यागने योग्य के भाव से, च = भी, अवचनात् = नहीं कहा गया है।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में आत्मतत्त्व को हेय-त्यागने योग्य नहीं कहा गया है। जड़ रूप में अवस्थित सम्पूर्ण विश्व को हेय कहकर उससे अलग (परे) आत्मतत्त्व का ही निर्देशन किया गया है। इस कारण हेय जगत् से पृथक् ब्रह्म का चित् रूप होना स्पष्टत: सिद्ध होता है।

यदि ब्रह्म गौण एवं अचेतन होता, तो मुक्ति का उपदेश करने वाले वेदान्त कथन उसे त्याज्य कहते और मुक्तिप्राप्ति की इच्छा वाले लोग उस बह्म की उपासना कभी नहीं करते। समस्त शास्त्र ब्रह्म से विपरीत विषयों का परित्याग करने का ही उपदेश देते हैं, किन्तु ब्रह्म का त्याग करने का कहीं भी निर्देश नहीं मिलता। इसलिए 'आत्मा' शब्द ब्रह्म का वाची है और वही इस जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण भी है। यह प्रकृति वाची नहीं हो सकता ॥८॥

'आत्मा' की ही तरह से 'सत्' शब्द भी प्रकृति-वाची नहीं है। इसकी पुष्टि हेतु एक दूसरा कारण सूत्रकार सूत्रित कर रहे हैं—

(९) स्वाप्ययात् ॥९॥

सूत्रार्थ— स्व = स्वयं-अपने में, अप्ययात् = लीन होने के कारण ('सत्' शब्द भी जड़-प्रकृति वाची नहीं हो सकता)।

व्याख्या— परब्रह्म परमात्मा स्वयं अपने-आप में ही लीन हो जाता है या फिर उसके द्वारा उद्भूत जगत् उसी में लय हो जाता है। यदि ब्रह्म सगुण होता, तो वह स्वयं लीन होने वाला नहीं कहा जा सकता। छान्दोग्य ६/८/१ के अनुसार- 'हे सोम्य! जिस अवस्था में यह जीवात्मा सोता है, उसी समय यह सत् (अपने कारण) से सम्पन्न होता है। सम्पन्न अर्थात् सुषुप्त जीव अपने कारण रूप ब्रह्म में लीन हो जाता है। सत् सम्पन्न जीव का लीन होना प्रकृति में संभव नहीं है। यह तो मात्र निर्गुण एवं पूर्ण ब्रह्म में ही संभव है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में जिस सत् तत्त्व को सम्पूर्ण विश्व का कारण बतलाया गया है, उसी में जीवात्मा का विलीन होना भी बतलाया गया है तथा उस सत् को उसी का स्वरूप कहा गया है। इसलिए यहाँ 'सत्' नाम से कहा हुआ जगत् का कारण जड़वत्-प्रकृति नहीं हो सकता ॥९॥

अगले सूत्र में आचार्य पुन: इस तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हैं—

(१०) गतिसामान्यात् ॥१०॥

सूत्रार्थ— गति = समस्त श्रुति-वाक्यों का प्रवाह, सामान्यात् = समान रूप से चेतन-ब्रह्म को ही जगत् का कारण बतलाने के पक्ष में है। (अत: जड़ प्रकृति को जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता।)

व्याख्या— समस्त वेद-वाक्य-समूह सम्यक् रूप से निर्गुण ब्रह्म को ही जगत् का कारण मानते हैं। यहाँ सूत्र में 'गति' शब्द का अर्थ मुक्ति भी कहा गया है। विज्ञानघन सर्वशक्तिमान् सत्-तत्त्व रूप जगत्कारण ब्रह्म ही उपासित होकर मुक्ति देता है। सभी आर्ष ग्रन्थ समान रूप से उस अविनाशी ब्रह्म को एक रस-रूप में स्वीकारते हैं। उपनिषद्कार इसी ब्रह्म के द्वारा ही प्राण का उद्भव बतलाते हैं। उसी अविनाशी चैतन्यतत्त्व के

द्वारा ही मन के सहित सभी इन्द्रियों, आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथिवी आदि तत्त्वों का निर्माण होता है। ये समस्त कार्य जड़-प्रकृति के द्वारा किसी भी हालत में सम्पन्न नहीं किये जा सकते हैं। इस प्रकार से समस्त वेद-वाक्य (आर्ष प्रमाण) पूर्ण रूप से चेतन-ब्रह्म को ही जगत् का कारण मानते हैं। अतः त्रिगुणात्मिका-जड़-प्रकृति को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता है॥१०॥

'गति' का अर्थ श्रुति वाक्यों के प्रवाह के साथ-साथ 'दिशा' से लेना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। ब्रह्म स्वयं में लीन होता है, यह उसकी गति है; प्रकृति स्वयं में लीन नहीं होती, वह अन्ततः ब्रह्म में ही लीन होती है। अतः गति सामान्य से वह जड़- प्रकृति सृष्टि का कारण नहीं हो सकती।

अगले सूत्र में आचार्य पुनः इसी कथन को श्रुति के प्रमाणों द्वारा प्रतिपादित करते हुए उक्त प्रकरण को समाप्त करते हैं—

(११) श्रुतत्वाच्च॥११॥

सूत्रार्थ— श्रुतत्वात् = श्रुतियों द्वारा यत्र-तत्र सर्वत्र यही तथ्य प्रतिपादित किया गया है; अतः, च = भी (ब्रह्म ही जगत् का कारण सिद्ध होता है)।

व्याख्या— श्रुतियों द्वारा स्थान-स्थान पर ब्रह्म को ही जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता बतलाया गया है। इसके साथ ही ब्रह्म को सभी का परम कारण एवं समस्त कारणों का अधिपति कहा गया है। ब्रह्म अजन्मा है, अतः उनका कोई निर्माता (पिता) नहीं है; किन्तु प्रकृति का जन्मदाता वही अजन्मा ब्रह्म ही है। श्रुतियों ने ब्रह्म को निर्गुण बतलाया है, अतः वह कहने योग्य भी है। न कहने योग्य वस्तु श्रुतियों का मुख्य प्रतिपादक विषय कदापि नहीं हो सकती। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६/९ के अनुसार वह ब्रह्म सभी तत्त्वों का परम कारण एवं समस्त कारणों के अधिष्ठाताओं का भी अधिपति है। कोई भी न तो इस ब्रह्म का जनक है और न ही स्वामी है **(स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न पाधिपः)**। इसी उपनिषद् के ६/१६ में ऋषि कहते हैं कि वह ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का स्रष्टा है (स विश्वकृत्)। मुण्डक उप० २/१/९ कहती है कि 'इस ब्रह्म से ही सभी समुद्र एवं पर्वत प्रकट हुए हैं (अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे)।' अतः श्रुति प्रमाण द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि वह सर्वाधार ब्रह्म ही सम्पूर्ण विश्व का रचनाकार एवं उपादान कारण है, जड़-प्रकृति नहीं॥११॥

सम्पूर्ण जगत् का मूल उपादान-कारण ब्रह्म को बतलाने के पश्चात् अब अगले सूत्र से उस ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है। यहाँ आनन्दमय नाम से उस सर्वशक्तिमान् ब्रह्म का ही प्रतिपादन सूत्रकार कर रहे हैं—

(१२) आनन्दमयोऽभ्यासात्॥१२॥

सूत्रार्थ— आनन्दमयः = आनन्दमय (ब्रह्म), अभ्यासात् = बारम्बार अभ्यास से ही साध्य है।

व्याख्या— आनन्दमय ब्रह्म के बारम्बार संकीर्तन (अभ्यास) से सहज ही सिद्ध हो जाता है कि प्रकृति जगत् की कारणरूपा नहीं है। श्रुतियों ने 'आनन्द' शब्द का बारम्बार प्रयोग परब्रह्म के निमित्त ही किया है। ज्ञानीजन भी उसी ब्रह्म-सत्ता का निरन्तर अभ्यासपूर्वक ध्यान करते रहते हैं। इसी से उन्हें मोक्ष एवं ब्रह्म-पद की प्राप्ति संभव होती है। अतः ब्रह्म ही आनन्दमय है, प्रकृति नहीं। उपनिषदों में 'आनन्द' शब्द का ब्रह्म के अर्थ में बहुतायत से प्रयोग हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मवल्ली के छठें व सातवें अनुवाक में आनन्दमय का उल्लेख मिलता है- वह ब्रह्म आनन्दमय रसस्वरूप है। यह जीवात्मा इस रस स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर आनन्दमय हो जाता है। यदि वह ब्रह्म आकाश के सदृश पूर्ण आनन्दमय न होता, तो कौन जीवित रह पाता। कौन प्राणों में गति कर पाता? वास्तव में यह ब्रह्म ही सबका आनन्द प्रदाता है। इसी उपनिषद् के २/८, २/९,

३/६ और बृह. उप. ३/९/२८ में भी प्रचुरता से 'आनन्द' एवं 'आनन्दमय' शब्द परब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अत: 'आनन्दमय' नाम से यहाँ उस जगन्नियन्ता आत्मस्वरूप परब्रह्म का ही वर्णन श्रुतियों में मिलता है और अन्य किसी का या जड़-प्रकृति आदि का कदापि उल्लेख नहीं है॥१२॥

यहाँ आशंका होती है कि आनन्दमय शब्द में जो 'मयट्' प्रत्यय है, वह विकार अर्थ का बोधक है और ब्रह्म विकार-रहित है। अतः जिस तरह से अन्नमय आदि शब्द ब्रह्म के वाची नहीं हैं, उसी तरह उन्हीं के साथ आया हुआ यह 'आनन्दमय' शब्द भी ब्रह्म का वाची नहीं होना चाहिए?

उक्त आशंका का समाधान आचार्य इस अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(१३) विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्॥१३॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि, विकारशब्दात् = आनन्दमय शब्द से विकारार्थक मयट् प्रत्यय का बोध होने से, इति = ऐसा कहे कि ब्रह्मविकार रहित है। न = तो यह कहना उचित नहीं (क्योंकि), प्राचुर्यात् = मयट् प्रत्यय का बोध यहाँ प्रचुरता के अर्थ में होता है।

व्याख्या— व्याकरण के प्रणेता महर्षि पाणिनि के सूत्र- '**तत्प्रकृतवचने मयट्**' (५/४/२१) के अनुसार 'मयट्' प्रत्यय विकारार्थक का बोधक नहीं; बल्कि प्रचुरता के अर्थ का बोध कराता है अर्थात् वह अविनाशी ब्रह्म आनन्दघन है। अत: यह कहना उचित नहीं, कि 'आनन्दमय' शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं होता। परब्रह्म परमात्मा 'आनन्दघन' स्वरूप है, इसलिए उस अविनाशी ब्रह्म को 'आनन्दमय' कहा जाना सर्वथा न्यायोचित है। इसमें किसी भी तरह की आशंका नहीं करनी चाहिए॥१३॥

यहाँ 'आनन्दमय' शब्द में 'मयट्' प्रत्यय प्रचुरता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी की पुष्टि हेतु आचार्य एक अन्य हेतु बतला रहे हैं—

(१४) तद्धेतुव्यपदेशाच्च॥१४॥

सूत्रार्थ— तद् = उपनिषदों में उस (ब्रह्म) को आनन्द का, हेतु: = हेतु (कारण), व्यपदेशात् = कहा जाने से, च = भी (यहाँ 'मयट्' प्रत्यय ब्रह्म का ही प्रतिपादक है, विकार अर्थ का बोधक नहीं)।

व्याख्या— उपनिषदों में ब्रह्म को आनन्द का हेतु बतलाया गया है। तैत्ति.उप. २/७ में कहा है- 'एष ह्येवानन्दयाति।' जो सभी को आनन्द देता है, वह स्वयं ही आनन्दघन है। अत: आनन्दमय शब्द विकार का बोधक नहीं है। जो आनन्द का कारण होगा, उसी से आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए 'आनन्द' के साथ 'मय' यहाँ विकार का बोधक नहीं, प्रचुरता का बोध कराने वाला है। जो आनन्दमय है वही अन्यों को आनन्दमय बना सकता है। प्राय: लोक में देखने को मिलता है कि जो धन से दूसरों को धनवान् बना देता है, वह स्वयं ही प्रचुर धनवाला होता है। जो दूसरों को ब्रह्मज्ञान के द्वारा ब्रह्मज्ञानी बना देता है, वह निश्चित ही प्रचुर पूर्ण ज्ञानी होता है। ऐसे ही जीवात्माओं को आनन्द प्रदान करने वाला ब्रह्म भी अवश्य प्रचुर आनन्दवाला होना चाहिए। अत: 'आनन्दमय' पद में 'मयट्' प्रत्यय प्रचुर अर्थ में समझना चाहिए। इसलिए यह पद प्रस्तुत प्रकरण में ब्रह्म का बोधक है, जो ब्रह्म के आनन्दमय रूप को प्रकट करता है॥१४॥

पाँचवें (आनन्दमय) कोश के रूप में वर्णित ब्रह्म को जो शास्त्रों में 'गुहाहित' कहा गया है, क्या ब्रह्म का ऐसा वर्णन वेद के अनुसार है? या वैदिक वर्णन से अतिरिक्त रूप में ब्रह्म का ऐसा वर्णन किया गया है? इसी आशंका का सूत्रकार समाधान कर रहे हैं—

(१५) मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते॥१५॥

सूत्रार्थ— च = तथा, मान्त्रवर्णिकम् = मन्त्राक्षरों में जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है, एव = (उसका) ही, गीयते = (यहाँ) यशोगान हुआ है।

व्याख्या— तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली (२/५) में पञ्चम कोश के रूप में सबसे भीतर गुहा में स्थित ब्रह्म का उल्लेख है, उसी का वर्णन वेदों में भी मिलता है। उसी (ब्रह्म) की महिमा का यशोगान उपनिषद् आदि समस्त श्रुतियों में किया गया है। वह परब्रह्म विशुद्ध आकाश स्वरूप परम धाम में रहते हुए ही सभी के हृदय में गुह्य रूप में अवस्थित है। जो उसे जान लेता है, वह सभी को अच्छी तरह से जानने वाले ब्रह्म के साथ समस्त भोगों का अनुभव करता है। यहाँ सूत्र में मन्त्र द्वारा वर्णित ब्रह्म को 'मान्त्रवर्णिक' कहा गया है। जिस प्रकार उक्त सूत्र में उस ब्रह्म को सभी का आत्मा कहा गया है, उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में भी 'आनन्दमय' को सभी का आत्मा कहा गया है। इसलिए दोनों ग्रन्थों में वर्णित एकता के लिए यही मानना ठीक है कि 'आनन्दमय' शब्द यहाँ ब्रह्म का बोधक है। वह जीव का बोधक कदापि नहीं हो सकता॥१५॥

अब यह आशंका होती है कि 'आनन्दमय' शब्द को जीवात्मा का वाचक मान लिया जाए, तो क्या आपत्ति है? इसी का समाधान अगले सूत्र में किया जा रहा है-

(१६) नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६॥

सूत्रार्थ— इतरः = ब्रह्म से अलग जो जीवात्मा है, वह, न = आनन्दमय नहीं हो सकता, अनुपपत्तेः = क्योंकि उक्त प्रकरण के वर्णन से यह बात प्रमाणित नहीं होती।

व्याख्या— उपर्युक्त प्रमाणों से यह पुष्ट हो गया है कि 'आनन्दमय' ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि जीवात्मा आनन्दस्वरूप होता, तो वह भिन्न-भिन्न योनियों में दुःख पाता हुआ क्यों भटकता फिरता? अतः यहाँ जीवात्मा को आनन्दमय कहना उचित नहीं है। तैत्ति. उप. २/६ में 'आनन्दमय' का वर्णन करने के पश्चात् यह कहा गया है- उस आनन्दमय ब्रह्म ने यह इच्छा की है कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ, फिर उसने तप किया। तप के बाद शक्ति मिलने पर सम्पूर्ण जगत् की रचना की। यह कथन मात्र ब्रह्म के लिए ही है। जीवात्मा के अनुकूल नहीं; क्योंकि यह (जीव) अल्पज्ञ एवं अल्प शक्ति वाला है। इस विराट् जगत् की रचना जैसे महत् कार्य करने की शक्ति-सामर्थ्य इसमें नहीं है। इसलिए 'आनन्दमय' शब्द जीवात्मा का वाची कदापि नहीं हो सकता है॥१६॥

अगले सूत्र में उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि के लिए आचार्य एक अन्य कारण बतला रहे हैं—

(१७) भेदव्यपदेशाच्च॥१७॥

सूत्रार्थ— भेदव्यपदेशात् = जीवात्मा एवं परमात्मा में भेद कहे जाने से, च = भी ('आनन्दमय' शब्द जीवात्मा का वाचक नहीं कहा जा सकता)।

व्याख्या— तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली के सातवें अनुवाक् में कहा है - **'रसो वै सः'** अर्थात्- वह (ब्रह्म) आनन्दमय-रस स्वरूप है। वह असीम आनन्द का आश्रय एवं सार है। उस 'रस' को पाकर जीवात्मा आनन्दयुक्त होता है। सूत्र में जीवात्मा और आनन्दस्वरूप ब्रह्म को परस्पर पृथक् कहा गया है। उपनिषद्कार आगे कहते हैं- **'रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'** अर्थात् जीवात्मा आनन्द प्राप्त करने वाला है और परमात्मा (ब्रह्म) आनन्द प्रदाता है। आनन्द लाभ प्राप्त करने वाला स्वयं आनन्द प्रदाता कभी नहीं हो सकता। इसके अलावा यदि जीवात्मा आनन्दमय होता, तो उसे फिर दूसरे से आनन्द का लाभ प्राप्त करने की जरूरत ही क्यों होती? अनुवाक में आगे आचार्य कहते हैं- **'एष ह्येवानन्दयाति'** (तैत्ति. २/७), अर्थात् जो स्वयं आनन्दमय है, वही दूसरों को आनन्द दे सकता है। अतः आनन्द प्रदाता ब्रह्म स्वयं ही आनन्दमय है। वह जीवात्मा तो उस आनन्दमय ब्रह्म को पाकर उस ब्रह्म के अंशमात्र का ही उपभोग करने वाला है। इस प्रकार से दोनों का भेद सिद्ध होता है। अतः जीवात्मा को आनन्दमय कदापि नहीं कहा जा सकता॥१७॥

अगले सूत्र में आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि 'आनन्दमय' शब्द से त्रिगुणात्मिका जड़-प्रकृति को स्वीकार नहीं किया जा सकता—

(१८) कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१८॥

सूत्रार्थ— कामात् = कामना से, च = भी, अनुमानापेक्षा = अनुमान प्रमाण से जाने गये की अपेक्षा से, न = नहीं है।

व्याख्या— श्रुति में आनन्दमय की प्राप्ति से जीवात्मा के समस्त कामनाओं के पूर्ण होने का वर्णन किया गया है। अतः शब्द द्वारा साक्षात् कहे गये अर्थ के समक्ष मात्र अनुमान प्रमाण के आधार पर आनन्दमय शब्द से त्रिगुणात्मिका-जड़ प्रकृति को स्वीकारने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। यहाँ आनन्दमय में कामना भाव प्रदर्शित हुआ है। उपनिषदों में जहाँ भी 'आनन्दमय' का प्रसङ्ग आया है, वहाँ पर 'सोऽकामयत्' अर्थात् उसने इच्छा की, कि मैं सृष्टि की रचना करूँ। इस वाक्य-कथन के द्वारा आनन्दमय (ब्रह्म) में सृष्टि-रचना रूप कामना का होना कहा गया है, जो त्रिगुणात्मिका जड़-प्रकृति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें आनन्द का आरोप करने की कामना भी अपेक्षित नहीं है ॥१८॥

ब्रह्म के अतिरिक्त जड़-प्रकृति या जीवात्मा कोई भी 'आनन्दमय' शब्द से स्वीकृत नहीं हो सकता। इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए आचार्य प्रकरण को समाप्त कर रहे हैं—

(१९) अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१९॥

सूत्रार्थ— अस्मिन् = इस आनन्दमय ब्रह्म में, अस्य = इस (जीवात्मा) का, च = भी, तद्योगम् = उस (ब्रह्म) के साथ सम्बन्ध, शास्ति = शास्त्र बतलाते हैं अर्थात् आनन्दमय ब्रह्म में जीवात्मा का आनन्द प्राप्ति रूप से सम्बन्ध भी शास्त्रों ने कहा है।

व्याख्या— शास्त्रों में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि परमात्मा के आनन्दमय तत्त्व का ज्ञाता जीवात्मा उसी ब्रह्म में मिल जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् २/८ में जीवात्मा की आनन्दमयादि सांसारिक अवस्था का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं कि वह अन्त में मुक्तावस्था अर्थात् आनन्दमय ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। ब्रह्म में अटूट विश्वास रखते हुए अभ्यासपूर्वक समाधि द्वारा जब जीवात्मा आत्मसाक्षात् कर लेता है, तब वह आनन्दमय ब्रह्म में मिल जाता है। यह जीवात्मा की उच्चतम अवस्था है। इसे ही मोक्ष कहा जाता है। बृहदारण्यक ४/४/६ में वर्णन है कि (निष्काम-आप्तकाम पुरुष) ब्रह्ममय होकर ब्रह्म में ही लीन होता है। श्रुति के इन प्रमाणों से स्वतः ही सिद्ध है कि जड़ प्रकृति या जीवात्मा को आनन्दमय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जीवात्मा का जड़ प्रकृति में या अपनी ही तरह के परतन्त्र किसी अन्य जीव में लय होते नहीं बन सकता। अतः एक मात्र ब्रह्म को ही 'आनन्दमय' शब्द से सम्मानित किया जा सकता है। वही समस्त विश्व का कारण है, अन्य कोई नहीं ॥१९॥

जिज्ञासा होती है कि श्रुति (तै.उ. एवं बृह.उ. ४/४/२२) में वर्णित विज्ञानमय शब्द जीवात्मा है या ब्रह्म? ऐसे ही सूर्य मण्डल के मध्य स्थित हिरण्मय पुरुष देवता है या ब्रह्म? यहाँ सूत्र में इसी का समाधान करने के लिए सूत्रकार अन्तः पद निर्देश वाले प्रसङ्ग का आरम्भ करते हैं—

(२०) अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

सूत्रार्थ— अन्तः = अन्तः करण (हृदय) में विद्यमान 'विज्ञानमय' एवं सूर्यमण्डल में स्थित 'जो हिरण्यमय पुरुष' है। तत् = उस (ब्रह्म) के, धर्मोपदेशात् = धर्म का उपेदश किया गया है।

व्याख्या— यहाँ आचार्य कहते हैं कि हृदय के अन्तर्गत जो पुरुष है या सूर्य मण्डल के मध्य में जो स्थित है, वह ब्रह्म ही है। यजुष् अ. ३१ में संकेत मिलता है कि प्रजापति का धर्म इस जगत् का अन्तर्वर्ती होना है अर्थात् वह ब्रह्म जगत् का कर्त्ता तो है, साथ ही वह जगत् के अन्तः (अणु-अणु) में भी रहता है। यह धर्म- जड़

प्रकृति का कभी नहीं हो सकता। छान्दोग्य. १/६/६-७ में भी कहा गया है 'वह समस्त पापों से ऊपर उठा हुआ है।' ये समस्त गुण उस अविनाशी ब्रह्म में ही हो सकते हैं, सामान्य देव या मानव में नहीं हो सकते। किसी भी स्थिति को प्राप्त देव, मनुष्य आदि योनियों में रहने वाले पुरुष के ये धर्म (लक्षण) नहीं हो सकते। अत: हृदय के अन्तस् में व सूर्य मण्डल के मध्य में स्थित पुरुष को जगन्नियन्ता ब्रह्म ही मानना उचित होगा, वह अन्य कोई नहीं, साक्षात् ब्रह्म ही है॥२०॥

उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए आचार्य इस सूत्र में दूसरा हेतु दे रहे हैं—

(२१) भेदव्यपदेशाच्चान्य: ॥२१॥

सूत्रार्थ— च = तथा, भेद-व्यपदेशात् = भेद का कथन होने से, अन्य: = अभिन्न नहीं है अर्थात् आदित्य एवं अक्षि से यहाँ अन्त: पुरुष का भेद बतलाया है। अत: वह ब्रह्म इनसे भिन्न है, वही अन्त: में प्रतिष्ठित है।

व्याख्या— श्रुति में जीवात्मा से ब्रह्म का भेद कथन कहे जाने से भी जीवात्मा एवं परमात्मा (ब्रह्म) दोनों पृथक्-पृथक् हैं। सर्वव्यापी परमात्मा भूत-प्राणियों में विद्यमान रहते हुए भी उनसे भिन्न है। छान्दोग्य के ये सन्दर्भ देखें **'य एषोऽन्तरादित्ये'** अर्थात् जो सूर्य के अन्त: में है एवं **'य एषोऽन्तरक्षिणि'** अर्थात् जो यह अक्षि के अन्दर है- इन दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि सूर्य और अक्षि (नेत्र) के अन्त: में विद्यमान पुरुष उन दोनों (सूर्य और अक्षि) अर्थात् देव या मानव से भिन्न है। अत: यह वर्णन सूर्य और अक्षि का नहीं हो सकता। इनमें अन्तर्यामी रूप से स्थित ब्रह्म ही उपास्य है। वही इसमें विद्यमान रहता है। बृहदारण्यक ने भी कहा है- **'य आदित्ये तिष्ठन् .... आत्मान्तर्याम्यमृत:'** अर्थात् 'जो सूर्य में रहने वाला सूर्य का अन्तर्वर्ती है, जिसे सूर्य नहीं जानता, सूर्य ही जिसकी देह है तथा जो अन्दर रहकर भी सूर्य का नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा और अमृत है।' इस प्रकार आत्मा का आदित्य (सूर्य) से भिन्नत्व बोध होने से स्पष्ट हो जाता है कि वह 'आनन्दमय' बह्म ही उपास्य है॥२१॥

अभी तक के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय का निमित्त और उपादान कारण एकमात्र ब्रह्म ही है, जीवात्मा या प्रकृति नहीं। फिर भी जिज्ञासा होती है कि छा.उ. ३/१/१ में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का कारण आकाश को कहा गया है,फिर यह कैसे संभव है कि जिससे जगत् के जन्म आदि होते हैं, वह ब्रह्म ही है। इसी कथन का समाधान सूत्रकार यहाँ करते हैं—

(२२) आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२२॥

सूत्रार्थ— आकाश: = आकाश (पद ब्रह्म का वाचक है), तत् = उस (ब्रह्म के), लिङ्गात् = लिङ्ग (चिह्न) से अर्थात् ब्रह्म का निश्चय कराने वाले लक्षण (चिह्न) उन सन्दर्भों में है, अत: वहाँ 'आकाश' शब्द ब्रह्म का वाचक है।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में ब्रह्म को आकाश ही बतलाया गया है। आचार्य छा. १/१/१ का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि ये सभी भूत (प्राणि-समुदाय) आकाश से ही उद्भूत होते हैं और उसी में लय हो जाते हैं। आकाश सर्वाधिक बड़ा और सबका कारण है अर्थात् सभी आकाश के ही आश्रय में हैं। आकाश को जगत् का कारण रूप मानने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म ही आकाश का वाच्य है; क्योंकि आकाश के लिए श्रुति में जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, वे भूताकाश में असम्भव हैं। भूताकाश तो स्वयं ही भूतों के समूह में आ विराजता है। अत: उसे भूतों की उत्पत्ति होना-कहना उचित नहीं है। श्रुति में वर्णित विशेषण एकमात्र ब्रह्म में सुसंगत हो सकते हैं। वही सर्वसमर्थ है, सर्वोत्कृष्ट है। अत: यही प्रमाणित होता है कि उस (छा. १/१/१) में 'आकाश' नाम से परब्रह्म ही जगत् का कारण कहा गया है और ऐसी श्रुति भी है- ॐ खं ब्रह्म॥२२॥

**** यहाँ ध्यातव्य है कि 'आकाश' उसका (ब्रह्म का) प्रतीकात्मक स्वरूप (पहचान) है, उसे आकाश ही कहना***

उतना युक्तिसंगत नहीं। आकाश उसका प्रतीक है, वह आकाश भी है। यही तथ्य उसके (ब्रह्म के) प्राण, ज्योति आदि के सम्बन्ध में भी है।

अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं कि अनेक स्थलों में आकाश की भाँति 'प्राण' को भी ब्रह्म का वाचक कहा गया है, उसी का विवेचन यहाँ किया गया है—

(२३) अत एव प्राणः ॥२३॥

सूत्रार्थ— अतः = इसलिए अर्थात् अनेक स्थलों में कहे हुए लक्षण ब्रह्म में, एव = ही (सम्भव हैं, इस कारण), प्राणः = प्राण (ही ब्रह्म है)।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में प्रयुक्त 'तल्लिङ्ग' हेतु से ही यहाँ 'प्राण' पद ब्रह्म का वाचक सिद्ध होता है। छा. १/११/१५ में कहा है कि अवश्य ही ये समस्त प्राणी प्राण में ही लय होते हैं और प्राण से ही प्रकट (उद्भूत) होते हैं। ये लक्षण प्राण-वायु में नहीं घट सकते; क्योंकि समस्त भूतों के जन्मादि का कारण प्राणवायु नहीं हो सकता है। इसलिए यहाँ सूत्र में 'प्राण' नाम से ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है, इसे ही स्वीकारना चाहिए। अथर्ववेद ११/४/१५ में ब्रह्म रूप प्राण के सन्दर्भ में इस प्रकार कहा है- यह सम्पूर्ण जगत् जिसके वश में है, जो सदा उपस्थित रहता है और सबका ईशिता (शासक) है। जिसमें सब प्रतिष्ठित हैं, आश्रित हैं, उन प्राण रूप ब्रह्म के लिए नमस्कार है। अतीत, अनागत तथा दूसरे सभी प्राण रूप ब्रह्म में आश्रित हैं। बृह.उ. ४/४/१८ में भी कहा है- **'प्राणस्य प्राणम्'** अर्थात् वह प्राण का प्राण है। सम्पूर्ण विश्व के समस्त जीवन का प्रदाता है। यहाँ द्वितीय 'प्राण' पद ब्रह्म का ही वाचक है। इस प्रकार से उक्त प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सूत्र में प्रयुक्त 'प्राण' पद ब्रह्म का वाचक है॥२३॥

अगले सूत्र में आचार्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'ज्योति' शब्द ब्रह्म का वाचक है—

(२४) ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

सूत्रार्थ— ज्योतिः = 'ज्योति' (शब्द ब्रह्म का वाचक) है, चरणाभिधानात् = चरण-पद का कथन होने से अर्थात् विशेष सन्दर्भों में 'ज्योति' पद ब्रह्म वाची होता है।

व्याख्या— श्रुति में ज्योति को ब्रह्म के नाम से संबोधित किया गया है। छा.उ. १/१३/७ के अनुसार जो परम ज्योति स्वर्गलोक से ऊपर, सभी प्राणियों एवं सम्पूर्ण विश्व के ऊपर, जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई लोक नहीं, उस सर्वश्रेष्ठ परमधाम में प्रज्वलित हो रही है, वह निश्चय ही यही है, जो कि इस पुरुष में आन्तरिक ज्योति है। यहाँ उद्धृत 'ज्योतिः' शब्द जड़ प्रकाश वाची नहीं है, यह तथ्य तो इसमें वर्णित लक्षणों से सिद्ध हो जाता है। फिर ज्योतिः शब्द किसका वाचक है? ज्ञान का या जीवात्मा का या फिर ब्रह्म का? इसका समाधान नहीं होता। इसलिए आचार्य ने कहा कि यहाँ पर जो 'ज्योतिः' शब्द आया है, वह ब्रह्म का ही वाचक है; क्योंकि इसके पहले छा.उ. (३/१२/६) में इस ज्योतिर्मय ब्रह्म के चार पादों का उल्लेख मिलता है। इन चार पादों में से एक पाद के अन्तर्गत समस्त प्राणि-समुदाय को और शेष तीन पादों को अमृत स्वरूप और परमधाम में अवस्थित कहा गया है। अतः इस सन्दर्भ में प्रयुक्त 'ज्योति' पद ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का वाचक नहीं हो सकता।

ब्रह्म चेतनरूप होने से सम्पूर्ण विश्व को प्रकाश में लाने का हेतु है। अतः ब्रह्म के लिए 'ज्योति' पद का प्रयोग सर्वथा उचित है। सूर्यादि सभी प्रकाशमान लोकों का निर्माता ब्रह्म ही है। इन लोकों का यह रूप ब्रह्म के द्वारा ही पूर्ण होता है। तैत्ति. ब्रा. ३/१२/९/६ कहता है- **'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः'** अर्थात् जिसके द्वारा तेज से प्रदीप्त हुआ सूर्य तप (प्रकाशित हो) रहा है, वह श्रेष्ठ तत्त्व ब्रह्म है। मुण्डक. २/२/१० में कहा गया है

कि 'उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित है।' बृह.उ. ४/४/१६ में वर्णन मिलता है कि ज्ञानीजन आयु पर्यन्त प्रकाशकों के भी प्रकाशक उस अमरणधर्मा ब्रह्म की ज्योति रूप में उपासना करते हैं। इस प्रकार से इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ सूत्र में प्रयुक्त 'ज्योति' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है, अन्य किसी का नहीं॥२४॥

अगले सूत्र में आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं कि 'गायत्री' का उल्लेख छान्दोग्य. के ३/१२-१३ में छन्द के रूप में निरूपण न करके ब्रह्म के रूप में निरूपण किया गया है—

(२५) छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम्॥२५॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहें कि, छन्दोऽभिधानात् = छन्द (गायत्री) का कथन होने से (उसी के चार पादों का उल्लेख है), न = (ब्रह्म के चार पादों का वर्णन) नहीं है, इति न = तो यह उचित नहीं (क्योंकि), तथा = उस तरह के वर्णन से, चेतोऽर्पणनिगदात् = ब्रह्म में चित्त का समर्पण कहा गया है, तथा हि दर्शनम् = वैसा ही उल्लेख अन्यत्र भी देखा जाता है।

व्याख्या— यदि ऐसा कहें कि छा.उ. ३/१२/१ में वर्णित गायत्री छन्द में उसी के चार पादों का उल्लेख है। उसमें ब्रह्म का वर्णन नहीं है, तो ऐसी मान्यता बना लेना उचित नहीं है; क्योंकि गायत्री नामक छन्द के लिए यह कहना नहीं बन सकता कि यह जड़-चेतनमय सम्पूर्ण विश्व गायत्रीमय ही है। अत: यहाँ ऐसा मानना चाहिए कि सबके परम कारण सर्वात्मक परब्रह्म में चित्त-वृत्तियों का समर्पण कराने के लिए उस ब्रह्म का ही वर्णन है। इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी उद्गीथ, प्रणव आदि के नामों से ब्रह्म का वर्णन देखने को मिलता है। अत: गायत्री छन्द से जड़-चेतन युक्त सम्पूर्ण विश्व के कारण रूप में वृत्तियों का समर्पण होने से गायत्री भी ब्रह्ममय ही है। 'गायत्री' पद द्वारा किया गया उल्लेख ब्रह्म का ही उल्लेख है, वर्ण रचना मात्र छन्द का नहीं। उस ब्रह्म की महत्ता को 'तावानस्य महिमा' आदि मन्त्र के द्वारा स्पष्ट किया है। पुरुष सूक्त में इस मन्त्र का भाव ब्रह्म के विवेचन में कहा गया है। यहाँ मन्त्र में 'पुरुष' पद ब्रह्म का निर्देश करता है, छन्द का नहीं।

छान्दोग्य के इस अनुवाक में गायत्री के साथ जो उपासना पद्धति कही गई है, वह ब्रह्मज्ञान के लिए अति सुलभ साधन है। ब्रह्म का दर्शन इसी से होता है। अत: छा. उ. ३/१२-१३ में छन्द का उल्लेख न होकर 'गायत्री' पद के द्वारा ब्रह्म का ही विवेचन किया गया है,यही जानना चाहिए॥२५॥

उक्त प्रकरण में 'गायत्री' पद ब्रह्म का वाचक है, इस कथन की पुष्टि के लिए आचार्य यहाँ एक और समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२६) भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्॥२६॥

सूत्रार्थ— भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः = भूत आदि को पाद बतलाना युक्ति संगत हो सकता है, च = इसलिए भी, एवम् = ऐसा ही है।

व्याख्या— गायत्री वा इदं सर्वम् अर्थात् यह सब कुछ गायत्री ही है। छा. ३/१२ के प्रकरण में गायत्री को भूत, पृथिवी, शरीर और हृदय रूप चार पादों से युक्त कहा गया है। तत्पश्चात् उसकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए 'पुरुष' नाम से उल्लिखित परब्रह्म के साथ उसकी एकता करके समस्त प्राणियों को उसका एक पाद कहा गया है तथा अमृत स्वरूप तीन पादों को परम धाम में प्रतिष्ठित कहा गया है। इस प्रकरण की संगति तभी बैठती है, जब गायत्री रूप से उसे ब्रह्म ही मानें तथा यह उचित भी है; क्योंकि गायत्री को मात्र छन्द मानने से भूतादि प्राणियों को उसके चरण (पाद) नहीं माना जा सकता। यह संकेत तो एकमात्र ब्रह्म के लिए ही उपयुक्त है। अत: यहाँ 'गायत्री' और 'ब्रह्म' दोनों एक ही हैं- अभिन्न हैं। इनमें कोई भेद नहीं है॥२६॥

ऊपर वर्णित सिद्धान्त की पुष्टि के लिए आचार्य स्वयं ही शङ्का उपस्थित करके उसका समाधान यहाँ सूत्र में कर रहे हैं—

(२७) उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२७॥

सूत्रार्थ— उपदेशभेदात् = उपदेश का भेद होने से, चेत् = यदि, इति = ऐसा (कहो, तो), न = गायत्री-ब्रह्म का वाचक नहीं, न = (तो) यह उचित नहीं; क्योंकि, उभयस्मिन् = दो प्रकार के उपदेश होने पर, अपि = भी, अविरोधात् = पारस्परिक विरोध नहीं है।

व्याख्या— यदि यह कहें कि **'त्रिपादस्यामृतं दिवि'** ....छा.उ. ३/१२/६ में वर्णित 'तीन पाद अमृत स्वरूप एवं दिव्यलोक में हैं,ऐसा कहकर दिव्यलोक को ब्रह्म के तीन चरणों से सम्पन्न (युक्त) बतलाया गया है तथा इसके उपरान्त, **'अथ यदतः परोदिव ज्योतिर्दीप्यते** ....छा.उ. ३/१२/७ में 'ज्योति' नाम से प्रतिपाद्य ब्रह्म को दिव्य लोक से भी परे कहा है। इस प्रकार परस्पर भेद होने के कारण गायत्री को ब्रह्म का वाचक बतलाना संगत नहीं है, ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि दोनों स्थलों के प्रतिपादन की शैली में कुछ भी भेद न होने से यथार्थतः कोई विरोध नहीं है। दोनों स्थानों में वर्णित श्रुति का उद्देश्य 'गायत्री' शब्द एवं 'ज्योति' शब्द के वाचक ब्रह्म को ही सर्वोपरि परम धाम में अवस्थित बतलाना है। उस परम ब्रह्म को तो इस तरह जानना चाहिए कि वह दिव्य लोक पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् के अन्दर-बाहर सर्वत्र विद्यमान रहता है। ऐसा ही प्रतिपादन ईशोप. १/५ में भी किया गया है। इस प्रकार से गायत्री भी ब्रह्म की उपासना में प्रयुक्त होने से वह ब्रह्मोत्तर प्रतीत होती है, किन्तु उसका निवास भी सर्वोपरि श्रेष्ठ धाम में होने से निश्चय ही वह ब्रह्ममय है। इस प्रकार 'गायत्री' और 'ज्योतिः' दोनों ही पद ब्रह्म के वाचक हैं, ऐसा छान्दोग्य के प्रकरण (३/१२-१३) से स्पष्ट हो जाता है ॥२६॥

पूर्व सूत्र 'अत एव प्राणः '(१/१/२३) में स्पष्ट किया गया है कि श्रुति में वर्णित 'प्राण' नाम से 'ब्रह्म' का उल्लेख मिलता है, लेकिन कौषीतकि उप. (३/२) एवं ऐतरेय आरण्यक (२/२/३) में इन्द्र ने क्रमशः प्रतर्दन एवं विश्वामित्र से कहा है कि 'मैं ही ज्ञान स्वरूप प्राण हूँ'। अतः आशंका होती है कि यहाँ सूत्र में प्रयुक्त 'प्राण' शब्द किसका वाचक है ? इन्द्र का ? प्राण वायु का ? जवीात्मा का ? या फिर ब्रह्म का ?

प्रस्तुत सूत्र में आचार्य इसी प्रकरण का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२८) प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२८॥

सूत्रार्थ— प्राणः = 'प्राण' शब्द (यहाँ भी ब्रह्म का वाचक है,) तथा = वैसा, अनुगमात् = अनुगत-संगत होने से अर्थात् उक्त प्रकरण के प्रसङ्ग पर विचार करने से ऐसा ही प्रतीत होता है कि 'प्राण' शब्द यहाँ ब्रह्म का वाचक है।

व्याख्या— उपर्युक्त प्रसङ्ग पर अच्छी तरह से विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि 'प्राण' शब्द यहाँ पर एकमात्र ब्रह्म के ही निमित्त प्रयुक्त हुआ है। कौषी. उ. ३/२ एवं ३/९ में प्रतर्दन ने इन्द्र से पुरुषार्थ रूप वर की याचना की है। उसके लिए परम हितकारी देवराज इन्द्र के उपदेश में व्यक्त हुआ 'प्राण' निश्चय ही 'ब्रह्म' होना चाहिए; क्योंकि ब्रह्मज्ञान से अधिक दूसरा कोई हितकारी उपदेश नहीं हो सकता। 'प्राण' को उक्त प्रसङ्ग में प्रज्ञान स्वरूप कहा गया है; जो स्वयं ही ब्रह्म के अनुरूप है और अन्त में उसे आनन्दमय अजर-अमर कहा गया है। इसी प्रकार से ऐतरेय आरण्यक २/२/३ में दिये आख्यान में इन्द्र ने ऋषि विश्वामित्र को वर देने के लिए कहा, विश्वामित्र ने वर माँगा कि मैं आपको पूर्णरूपेण जान-जाऊँ। इन्द्र ने कहा- **'प्राणो वा अहमस्मि ऋषे'** अर्थात् हे ऋषे! मैं निश्चय ही 'प्राण' हूँ। आगे और कहा- 'प्राण तुम हो, प्राण समस्त भूत हैं; प्राण है यह, जो तप रहा है। वह, मैं इस रूप से समस्त दिशाओं को व्याप्त किए हूँ।

यहाँ इस प्रकरण में 'प्राण' की भावना से 'ब्रह्म' की ही उपासना की गई है। ऋग्वेद ३/५१/४, ६/३०/१, १०/५४/१ एवं १०/१२०/१-३ की ऋचाओं में प्राण रूप से ब्रह्म का ही उल्लेख किया गया है।

उपर्युक्त सभी तथ्य ब्रह्म के लिए ही उपयुक्त हैं। प्रसिद्ध प्राण वायु, इन्द्र या जीवात्मा के लिए इस प्रकार कहना उपयुक्त नहीं हो सकता। अतः यहाँ 'प्राण' शब्द से ब्रह्म की ही विवेचना की गई है, ऐसा सिद्ध होता है ॥२८॥

यहाँ जिज्ञासा होती है कि उक्त सन्दर्भ में स्वयं इन्द्र ने अपने आप को 'प्राण' कहा है। अतः यहाँ 'प्राण' पद का वाचक ब्रह्म न होकर स्वयं इन्द्र को होना चाहिए। प्रस्तुत सूत्र में आचार्य इसी का समाधान करते हैं—

(२९) न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२९॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहें कि, वक्तुः = वक्ता (इन्द्र) द्वारा, आत्मोपदेशात् = अपने आप (आत्मा) को ही 'प्राण' नाम से उपदेशित करने के कारण, न = 'प्राण' शब्द का वाचक नहीं है, इति = (तो) ऐसा कहना, न = उचित नहीं है, हि = क्योंकि, अध्यात्मसम्बन्धभूमा = अध्यात्म सम्बन्धी उपदेश की बहुलता ही, अस्मिन् = इस प्रकरण में है।

व्याख्या— यदि यह कहें कि इस प्रकरण में इन्द्र ने स्पष्टतया स्वयं को ही 'प्राण' शब्द से निर्दिष्ट किया है, ऐसी दशा में 'प्राण' शब्द का बोध ब्रह्म के निमित्त न होकर जीव के निमित्त होना चाहिए, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इस प्रकरण में अध्यात्म सम्बन्धी विषय की प्रचुरता है, आधिदैविक विषय की नहीं। अतः यहाँ 'प्राण' शब्द को जीवात्मा का नहीं; वरन् उपास्य रूप से इन्द्रलक्षण सम्पन्न ब्रह्म का ही वाचक मानना चाहिए। यहाँ सूत्र में वर्णित 'अध्यात्म' पद परब्रह्म का निर्देशन करता है। उक्त प्रकरण में इसी के सम्बन्ध की बहुलता देखी गई है। इन्द्र ने आत्मा में स्थित ब्रह्म की 'प्राण' रूप से उपासना का संकेत किया है। अथर्ववेद के प्राण सूत्र ११/४ में 'प्राण' रूप से ब्रह्म के प्रतिपादन के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार उक्त विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्राण' शब्द एकमात्र ब्रह्म का ही वाचक है ॥२९॥

पुनः आशंका होती है कि यदि 'प्राण' शब्द इन्द्र का वाचक नहीं है, तो इन्द्र द्वारा कहा गया कथन - 'मैं ही ज्ञान स्वरूप ब्रह्म हूँ।' 'तू मेरी ही उपासना कर' यहाँ इन्द्र ने स्वयं अपने आपका इस रूप में उपदेश क्यों किया? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३०) शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥३०॥

सूत्रार्थ- शास्त्रदृष्ट्या = शास्त्र की दृष्टि से, तु = तो, वामदेववत् = वामदेव के सदृश, उपदेशः = (यहाँ) इन्द्र ने उपदेश देते हुए स्वयं को 'प्राण' कहा है।

व्याख्या- बृह.उप. १/४/१० में उल्लेख मिलता है कि उस ब्रह्म को देवों में जिसने जाना, वह ब्रह्ममय हो गया। ऐसे ही ऋषियों और मानवों में भी जिसने उस ब्रह्म को जाना, वह उस (ब्रह्म) के अनुरूप हो जाता है। उसे आत्मवत् देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना कि मनु एवं सूर्य भी मैं ही हूँ। इस प्रकरण से यह सिद्ध हुआ कि जो महान् पुरुष उस अविनाशी ब्रह्म को पा लेता है, वह उसके साथ एकत्व की अनुभूति करता हुआ ब्रह्मभावापन्न होकर ऐसा कह सकता है। अतः उन वामदेव ऋषि के सदृश इन्द्र का ब्रह्मभावापन्न अवस्था में शास्त्र की दृष्टि से यह कहना है कि मैं ही ज्ञानरूप प्राण अर्थात् ब्रह्म हूँ। तुम मुझ ब्रह्म की उपासना करो। इस प्रकार 'प्राण' शब्द को ब्रह्म का वाचक स्वीकार करने में किसी भी तरह की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसे ही इन्द्र एवं वामदेव को भी ब्रह्म का वाचक मानना ही उचित होगा ॥३०॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से शङ्का उपस्थित करके उसके समाधान द्वारा 'प्राण' शब्द को ब्रह्म का वाचक सिद्ध करते हुए उक्त प्रकरण को समाप्त करते हैं—

(३१) जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥३१ ॥

सूत्रार्थ- चेत् = यदि कहो कि, जीवमुख्यप्राणलिङ्गात् = जीवात्मा एवं मुख्य प्राण के लक्षण पाये जाते हैं, न = (इसलिए) '**प्राण**' शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं है, इति न = तो ऐसा कहना उचित नहीं है, उपासात्रैविध्यात् = त्रिविध उपासना होने के कारण, आश्रित्वात् = समस्त लक्षण ब्रह्म के आश्रित हैं (तथा), इह तद्योगात् = इस प्रसङ्ग में ब्रह्म के उन लक्षणों को भी कहा गया है, अत: (यहाँ '**प्राण**' शब्द ब्रह्म का ही बोधक है)।

व्याख्या- ऐतरेय आरण्यक व कौषी. उप. आदि श्रुतियों के उक्त प्रसङ्ग में जीव के लक्षणों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है '**न वाचं विजिज्ञासीत। वक्तारं विद्यात्** (कौ.उ.३/८)' अर्थात् वाणी को जानने की अपेक्षा वक्ता को जानने का प्रयास करना चाहिए।' यहाँ इस कथन से वाणी आदि कार्य और कारण के अध्यक्ष जीवात्मा को जानने का लक्षण स्पष्ट हुआ। ऐसे ही '**प्राण**' के लक्षण का भी उल्लेख प्राप्त होता है '**अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति** (कौषी.३/३) अर्थात् प्राण ही प्रज्ञा है। वही शरीर को ग्रहण करके उठाता है।' शरीर को धारण करना मुख्य प्राण का ही धर्म (लक्षण) है। अत: यह कहें कि '**प्राण**' ब्रह्म का वाचक नहीं है, तो यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि ब्रह्मोपासना के अतिरिक्त जीवात्मा एवं प्राण को भी उपास्य मानने से त्रिविध उपासना का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, जो कि ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त जीव और प्राण आदि के लक्षणों का आश्रय भी ब्रह्म ही है। अत: ब्रह्म के वर्णन में उनके लक्षणों का आश्रय भी ब्रह्म ही है। अत: ब्रह्म के वर्णन में उनके लक्षणों का आना उचित ही है। यहाँ ब्रह्म के लोकपाल आदि लक्षणों का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वाणी भी यहाँ ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। इस प्रकार यहाँ '**प्राण**' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है। इन्द्र, जीवात्मा या प्रसिद्ध प्राण का नहीं, यही मानना उचित होगा। जीव एवं प्राण आदि सभी ब्रह्म के ही आश्रित हैं। उनमें किसी भी तरह की भिन्नता नहीं है॥३१॥

॥ इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

॥ अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

प्रथम पाद में आचार्य ने यह कहा कि उपनिषद्-श्रुति आदि में जगत् के कारण और उपास्यदेव का उल्लेख 'आनन्दमय', 'आकाश', 'ज्योति' एवं 'प्राण' आदि के नाम से हुआ है, वह उल्लेख अविनाशी परब्रह्म का ही है। इन उपर्युक्त पदों का प्रयोग-वेद-लोक द्वारा अर्थान्तरों में भी किया जाता है। प्रसंगवश इन प्रतिपादनों में ब्रह्म के अलावा जीवात्मा, जगत् एवं उपासना आदि का भी ब्रह्म के रूप में उल्लेख हुआ है। उसी प्रसंग को आगे चलाते हुए द्वितीय पाद का शुभारंभ किया जा रहा है—

(३२) सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१॥

सूत्रार्थ— सर्वत्र = समस्त वेदान्त वाक्य-समूह में, प्रसिद्धोपदेशात् = (जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के कारण रूप में) प्रसिद्ध ब्रह्म का ही उपास्य देवता के रूप में उपदेश किया गया है।

व्याख्या— समस्त वेदान्त वाक्य-समूह (शास्त्रों) में एक मात्र ब्रह्म की उपासना का उपदेश किया गया है। छा.उ. ३/१४ के प्रारम्भ में ऋषि कहते हैं— यह सम्पूर्ण विश्व निश्चय ही ब्रह्म है; क्योंकि यह उसी ब्रह्म के द्वारा प्रकट हुआ है, स्थिति के समय उसी में चेष्टा करता है और अन्त में उसी ब्रह्म में विलीन हो जाता है। साधक को राग-द्वेष से परे शान्तचित्त होकर एकात्म भाव से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए अर्थात् ऐसा ही दृढ़ निश्चयी भाव साधक को ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि मनुष्य श्रेष्ठ संकल्पों से युक्त है। साधक इस लोक में जिस तरह संकल्पमय होता है, परलोक में वह वैसा ही हो जाता है। अत: साधक को उक्त श्रेष्ठ संकल्प से युक्त होना चाहिए। यहाँ सूत्र में उसी ब्रह्म की उपासना करने के लिए कहा गया है, जिससे इस विश्व के जन्मादि होते हैं एवं जो सभी वेदान्त- वाक्य समूह में विश्व के महाकारण रूप से प्रख्यात है। अत: यहाँ उक्त प्रकरण में कहा हुआ उपास्य देव एकमात्र ब्रह्म ही है, अन्य और कुछ नहीं ॥१॥

छा.उ. के इस उक्त प्रकरण में एकमात्र ब्रह्म को उपास्यदेव के रूप में माना गया है। इसी प्रकरण के आधार पर यहाँ इस अगले सूत्र में आचार्य एक अन्य हेतु और दे रहे हैं—

(३३) विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥२॥

सूत्रार्थ— च = और, विवक्षितगुणोपपत्तेः = श्रुति द्वारा वर्णित सत्य-संकल्पादि गुणों की संगति ब्रह्म में ही होती है। अत: उस प्रकरण में वर्णित उपास्य देव एकमात्र ब्रह्म ही है।

व्याख्या— छान्दोग्य उपनिषद् (३/१४/२-४) में उपास्यदेव के स्वरूप का उल्लेख करते हुए आचार्य ने जो भी विशेषताएँ कही हैं, वे सभी एकमात्र सर्वव्यापी ब्रह्म में ही सुसंगत हो सकती हैं। ब्रह्म के ऐसे गुणों का यहाँ उल्लेख है, जिन्हें उपासना-काल में ध्यान में लाना अनिवार्य हो जाता है। वे समस्त गुण 'मनोमय' से लेकर 'वाक् रहित' एवं 'सम्भ्रमशून्य' तक उक्त अनुवाक में बतलाए गये हैं। ब्रह्म को 'मनोमय' एवं 'प्राणस्वरूप शरीर से सम्पन्न कहना उचित ही है; क्योंकि वही सर्वान्तर्यामी परमात्मा है। केनोपनिषद् १/२ में उस अविनाशी सत्ता ब्रह्म को मन का भी मन एवं प्राण का भी प्राण कहा गया है। अत: यहाँ उक्त प्रकरण में व्यक्त उपास्य देव एकमात्र ब्रह्म ही है; क्योंकि छा.उ. ३/१४/२-४ में प्रयुक्त विशेषण (लक्षण) ब्रह्म में ही हो सकते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी में इनकी संगति नहीं हो सकती। ये सभी लक्षण ब्रह्म में ही हो सकते हैं ॥२॥

गुणों की उपपत्ति के पश्चात् अब जीवात्मा में उन गुणों की अनुपपत्ति कहकर पूर्वोक्त सिद्धान्त को इस सूत्र में आचार्य सिद्ध कर रहे हैं—

(३४) अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥३॥

सूत्रार्थ— तु = तो, अनुपपत्तेः = जीवात्मा में मनोमयादि गुणों की संगति न होने से, शारीरः = जीवात्मा, न = उपास्य नहीं है।

व्याख्या— जीवात्मा में मनोमय आदि गुण घटित नहीं होते। उपासना के लिए उपनिषदों-श्रुतियों में जो सत्य-संकल्प, सर्वव्यापकत्व, सर्वात्मकत्व एवं सर्वशक्तिमत्व आदि गुणों का उल्लेख किया गया है, वे समस्त गुण ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी में भी नहीं पाये जाते हैं। अत: इस प्रसङ्ग में वर्णित उपास्य-देव जीवात्मा नहीं है। यहाँ ब्रह्म को ही उपासना के योग्य मानना उचित होगा॥३॥

अगले सूत्र में प्रकारान्तर से उपर्युक्त तथ्य की ही पुष्टि आचार्य ने की है—

(३५) कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च॥४॥

सूत्रार्थ— कर्मकर्तृव्यपदेशात् = कर्म और कर्त्ता के कथन से, च = भी (जीवात्मा की उपास्यता पुष्ट नहीं होती)।

व्याख्या— छान्दोग्य उपनिषद् के इस प्रसंग के प्रारम्भ का वाक्य-'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत**' है। यहाँ शान्त उपासक (जीवात्मा) उपासना का कर्त्ता है और ब्रह्म कर्म है। '**उपासीत**' क्रिया का कर्म होने के कारण ब्रह्म का उपास्य होना सम्भव है, किन्तु कर्त्ता जीवात्मा का नहीं। ऐसा ही छा.उ.३/१४/४ में भी कहा गया है कि '**सर्वकर्मा**' आदि विशिष्ट गुणों से सम्पन्न ब्रह्म रूप आत्मा ही मेरे हृदय में निवास करता है। मृत्यु के पश्चात् यहाँ से गमन करते हुए परलोक में मैं इसी ब्रह्म रूप आत्मा को ही प्राप्त करूँगा। इस प्रकार से यहाँ पूर्वोक्त उपास्य देव को प्राप्त होने योग्य एवं जीवात्मा को उसे प्राप्त करने वाला बतलाया गया है। अत: यहाँ उपास्य देव ब्रह्म हैं और उपासक जीवात्मा। जीवात्मा उपास्य नहीं है। यही मानना उचित होगा।

जीवात्मा ब्रह्म को पाने वाला-प्राप्ति क्रिया का कर्त्ता है एवं जिसको प्राप्त होता है, वह प्राप्ति का कर्म '**ब्रह्म**' जीवात्मा से अलग है। जीवात्मा उपासना करने वाला और उसके फल स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होने वाला होने से उपासक और प्रापक है अर्थात् उपासना एवं प्राप्ति का कर्त्ता है। अत: कर्म और कर्त्ता के रूप में उपास्य एवं उपासक को स्पष्ट रूप से यहाँ पृथक्-पृथक् कहा है। उपासक और प्राप्त कर्त्ता स्वयं उपास्य या प्राप्य नहीं हो सकता। अत: इस प्रकरण में विवेचित गुणों से सम्पन्न ब्रह्म को ही उपास्य मानना उचित है, अन्य किसी को नहीं॥४॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से पुन: उक्त तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं—

(३६) शब्दविशेषात्॥५॥

सूत्रार्थ— शब्दविशेषात् = (उपास्य एवं उपासक के लिए) शब्द का भेद होने से भी (यह पुष्ट होता है कि यहाँ उपास्य-देव जीवात्मा नहीं है)।

व्याख्या— उपासक एवं उपास्य के शब्द का भेद होने से भी जीवात्मा का उपास्यत्व पुष्ट नहीं होता। शतपथ ब्राह्मण में ऋषि कहते हैं कि 'आत्मा के अन्दर परमात्मा का निवास है।' इसी प्रकार छा. उ. ३/१४/३-४ में उल्लेख मिलता है कि 'यह मेरे हृदय के अन्दर रहने वाला अन्तर्यामी आत्मा है। इसे ही ब्रह्म कहा गया है।' यहाँ '**एष:**' (यह) '**आत्मा**' एवं '**ब्रह्म**' ये शुरू और अन्त के शब्द उपास्य देव के लिए प्रयुक्त किये गये हैं तथा '**में**' अर्थात् '**मेरा**' यह षष्ठ्यन्त पद पृथक् रूप से उपासक जीवात्मा के लिए प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार दोनों के लिए प्रयुक्त शब्दों में पृथक्ता होने के कारण उपास्य-देव जीवात्मा से पृथक् सिद्ध होता है। जीव रूप आत्मा एवं ब्रह्म रूपी परमात्मा में शब्द भेद होने से जीव ब्रह्म नहीं है; किन्तु वह ब्रह्म में संगति बिठाने से ब्रह्ममय हो जाता है। इस तरह से भी जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर हो जाता है। अत: यहाँ पर जीवात्मा को उपास्य देव के रूप में मानना उचित नहीं है॥५॥

इसके अतिरिक्त आचार्य अगले सूत्र में और भी पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३७) स्मृतेश्च ॥६ ॥

सूत्रार्थ— स्मृतेः = स्मृति-प्रमाण से, च = भी जीव और ब्रह्म (उपासक और उपास्य) का भेद सिद्ध होता है।

व्याख्या— श्रीमद्भगवद्गीता एवं मनुस्मृति आदि ग्रन्थ स्मृतियों के अन्तर्गत माने जाते हैं। इनमें भी जीव और ब्रह्म की भिन्नता के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। गीताकार ने ईश्वर को समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित बतलाया है। उन्होंने कहा कि यहाँ भी उपास्य और उपासक का भेद स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है। अत: यहाँ उपास्यदेव एकमात्र ब्रह्म ही है, उससे पृथक् अन्य कोई नहीं। गीता के १२/८ में कहा गया है कि 'मुझ में ही मन को लगा और मुझ में ही बुद्धि को लगा, तत्पश्चात् तू मुझ में ही निवास करेगा अर्थात् मुझ (ब्रह्म) को प्राप्त करेगा। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इसी प्रकार मनुस्मृति ८/९१ में न्यायाधीश के समक्ष साक्ष्य प्रस्तुत करने वाले के लिए कहा है कि 'हे भले मानस! जो तू अपने आपको यह जानता है कि अकेला मैं ही हूँ, मेरे किये जाने को अन्य कोई नहीं जानता अथवा देखता; ऐसा तुम मत समझो, अच्छाई-बुराई को देखने वाला वह सर्वद्रष्टा ब्रह्म सदैव तुम्हारे हृदय में स्थित रहता है। वह तुम्हारे सभी मनोगत भावों को जानता है। अत: उसके विपरीत कुछ भी न कहना और न करना।

इस प्रकार उक्त प्रसंग के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि उपास्यदेव एकमात्र ब्रह्म ही है, आत्मा या अन्य और कोई नहीं। यही मानना उचित है ॥६ ॥

यहाँ जिज्ञासा होती है कि छा.उ. के उक्त ३/१४/३-४ प्रसंग में आत्मा (उपास्यदेव) को हृदय में स्थित एकदेशीय कहा है। यहाँ मन्त्र में उस (आत्मा) को धान, जौ (यव), सरसों एवं सावाँ से भी सूक्ष्म कहा गया है। ऐसी स्थिति में उसे ब्रह्म कैसे कहा जा सकता है ? आचार्य अगले सूत्र में इसी जिज्ञासा का निर्देश पूर्वक समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३८) अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७ ॥

सूत्रार्थ— अर्भकौकस्त्वात् = सूक्ष्म (लघु) हृदय में निवास करने से, च = और, तद्व्यपदेशात् = उसका कथन किये जाने से, न = नहीं (हृदय प्रदेश में ब्रह्म का निवास नहीं हो सकता), इति चेत् = ऐसा यदि कहो (तो यह कथन), न = उचित नहीं है, निचाय्यत्वात्-एवं = क्योंकि वह हृदय में निवास करने से उपासनीय, च = और, व्योमवत् = आकाश की भाँति विशाल है।

व्याख्या— यदि कोई यह कहे कि हृदय जैसे लघु (सूक्ष्म) स्थान में रहने वाला ब्रह्म भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म होगा; अत: वह सर्वत्र संव्याप्त नहीं हो सकता, ऐसा कथन करना उचित नहीं है; क्योंकि हृदय के परिमाण के अनुसार सर्वत्र संव्याप्त ब्रह्म का अणुत्वादि कहना मात्र औपचारिक ही है। यदि हृदय की आकाश से तुलना करें, तो उसमें सूक्ष्म होते हुए भी विशालता का आरोप किया जाता है। इसी तरह से आकाश भी सूक्ष्म एवं व्यापक है। वेद वाक्यों के अनुसार वह ब्रह्म सूक्ष्म (लघु) होते हुए भी सम्पूर्ण जगत् के अन्दर और बाहर सर्वत्र विद्यमान है। वह एक देशीय (क्षेत्रीय) नहीं है। उक्त प्रसंग में उस (आत्मा) को धान, जौ, सरसों एवं सावाँ से भी लघु कहा गया है, इससे श्रुति का उद्देश्य उसे लघु आकार का बतलाना नहीं है; वरन् अतिसूक्ष्म एवं इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य बतलाना है। इसी कारण उसी मन्त्र में यह भी कहा गया है कि वह पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समस्त लोकों से भी बड़ा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह इतना सूक्ष्म होते हुए भी सम्पूर्ण लोकों के बाहर-भीतर संव्याप्त एवं उनसे भी परे है। सर्वत्र वही ब्रह्म स्थित है। अत: यहाँ उपास्यदेव ब्रह्म ही है, दूसरा और कोई नहीं ॥७ ॥

परमात्मा समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित होकर भी उनके सुख-दु:ख से प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म की इसी विशेषता को आचार्य यहाँ सूत्र में बतला रहे हैं—

(३९) सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्॥८॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो कि, सम्भोगप्राप्तिः = समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित होने से भोगादि भी प्राप्त होंगे, इति न = तो ऐसा कहना उचित नहीं है, वैशेष्यात् = क्योंकि जीव की अपेक्षा उस ब्रह्म में विशेष भाव है।

व्याख्या— यदि कोई यह कहे कि आकाशवत् सर्वव्यापी ब्रह्म समस्त देहधारी प्राणियों के हृदय में स्थित होने के कारण उन प्राणियों के सुख-दुःखों का भोग भी भोगता ही होगा; क्योंकि वह आकाशवत् जड़ नहीं, चेतन है और चेतन में सुख-दुःख की अनुभूति सहज है, तो ऐसा कहना यहाँ उचित नहीं; क्योंकि ब्रह्म में कर्त्तापन का अभिमान और भोक्तापन नहीं है। वह समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में रहता हुआ भी उनके गुण और दोषों से सर्वथा परे है। यही जीवों (प्राणियों) की अपेक्षा ब्रह्म में विशेषता कही गई है। जीव तो अज्ञान के कारण कर्त्ता और भोक्ता है; परन्तु ब्रह्म सर्वथा विकार रहित है। मुण्डक उ. ३/१/१ में ऋषि कहता है कि वह तो मात्र साक्षी है, भोक्ता नहीं। इसी में ऋषि आगे और कहते हैं कि 'ब्रह्म तो बिना भोगों के ही होता है।' इस कथन में ब्रह्म में कर्त्ता और भोक्ता का आरोप नहीं होता। वह प्राणियों के हृदय में निवास करता हुआ भी प्राणियों के गुण -दोषों से पृथक् रहता है। जीवों (प्राणियों) की अपेक्षा ब्रह्म में यही विशेषता है॥८॥

उपर्युक्त प्रकरण में यह सिद्ध किया गया है कि समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित ब्रह्म अभोक्ता है; लेकिन कठ.उ. १/२/२५ में ओदन (भात) का उल्लेख होने से ब्रह्म को भोक्ता मानना चाहिए। इसी के साथ वेद (ऋ. १/१६४/२०) में उसे 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' कहकर स्पष्ट रूप से अभोक्ता कहा है। ऐसी स्थिति में इसका सामञ्जस्य किस प्रकार होगा ? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान करते हुए आगे का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

(४०) अत्ता चराचरग्रहणात्॥९॥

सूत्रार्थ— चराचर ग्रहणात् = चर और अचर सभी को ग्रहण करने के कारण, अत्ता = भक्षण करने वाला अर्थात् प्रलय के समय में सभी को अपने में लीन करने वाला परब्रह्म ही है।

व्याख्या— इस प्रसङ्ग में यहाँ ब्रह्म में भोक्तापन का आरोप होने से शंका होती है कि वह जीव के समान कर्मफल रूप सुख-दुःख का भोक्ता तो नहीं है? वस्तुतः ब्रह्म को यज्ञ एवं तप का भोक्ता कहा गया है। कठ.उ. १/२/२५ के अनुसार भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि समस्त प्राणी जिस ब्रह्म के लिए भोजन बनते हैं तथा जो सभी का संहारक बनता है, वह ब्रह्म जहाँ और जैसा है, इसे कौन जानता है? इस कथन से यह सिद्ध होता है कि सृष्टि के संहार काल में सम्पूर्ण चराचर जगत् को अपने में लीन करने के कारण ही ब्रह्म को भोक्ता कहा गया है। श्रुति में जिस भोक्ता का उल्लेख है, वह कर्मफल रूप सुख-दुःख आदि का भोक्ता नहीं है; प्रलय काल में मृत्युसहित सम्पूर्ण चराचर जगत् को अपने में समाहित कर लेना ही यहाँ उसका उपभोग है। अतः ब्रह्म को जो यहाँ का अत्ता-भोक्ता कहा गया है, व्यापक अर्थों में है, सामान्य अर्थों में नहीं॥९॥

उपर्युक्त तथ्य को सिद्ध करने के लिए अगले सूत्र में आचार्य एक अन्य हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं—

(४१) प्रकरणाच्च॥१०॥

सूत्रार्थ— प्रकरणात् = प्रकरण से, च = भी यही ज्ञात (सिद्ध) होता है कि उक्त सन्दर्भ में अत्ता पद से प्रलय कर्त्ता ब्रह्म का ही निर्देश है।

व्याख्या— प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के बीसवें सूत्र से लेकर चौबीसवें सूत्र तक परब्रह्म का ही वर्णन हुआ है। उक्त प्रकरण भी ब्रह्म से ही सम्बन्धित है। यहाँ भी जीवात्मा अथवा अन्य किसी का वर्णन नहीं हुआ है। उक्त सूत्रों में भी ब्रह्म के प्रति की जाने वाली आशंकाओं का समाधान किया गया है। उसी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करके उसे जानने का महत्त्व एवं उसकी कृपा को ही उसे जानने का एक मात्र उपाय बताया गया है। उपर्युक्त सूत्र में उस ब्रह्म को जानना अत्यन्त दुष्कर कहा गया है, जो कि पूर्व से चले आते हुए प्रकरण के

सदृश है। अत: पूर्वापर प्रसंगानुसार भी यह सिद्ध होता है कि यहाँ ब्रह्म के प्रति ही 'अत्ता' शब्द का प्रयोग हुआ है अर्थात् ब्रह्म को सब कुछ का अत्ता (भोजन करने वाला) भोक्ता कहा गया है॥१०॥

शिष्य को अब यह जिज्ञासा होती है कि इसके बाद वाली श्रुति कठ. उ.१/३/१ में कर्मफल रूप 'ऋत' को पीने वाली छाया एवं धूप की भाँति दो भोक्ताओं का उल्लेख मिलता है। यदि ब्रह्म कर्मफल का भोक्ता नहीं है, तो उपर्युक्त दो कौन-कौन हैं ? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान दे रहे हैं—

(४२) गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्॥११॥

सूत्रार्थ— गुहाम् = हृदय रूपी गुफा में, प्रविष्टौ = प्रविष्ट हुए दोनों, आत्मानौ = जीव और ब्रह्म, हि = ही हैं, तद्दर्शनात् = क्योंकि (दूसरे सूत्र में भी) इसी प्रकार देखा जाता है।

व्याख्या— हृदय रूपी गुहा क्षेत्र में आत्मा एवं परमात्मा दोनों ही स्थित हैं। कठोप. (१/३/१) के अनुसार 'सुकृतों' द्वारा प्राप्त देह के भीतर हृदय क्षेत्र (गुफा) में दोनों निवास करते हैं। ब्रह्मज्ञानी जन कहते हैं कि वे दोनों (आत्मा-परमात्मा) छाया और धूप के सदृश विपरीत धर्म वाले हैं। ऐसा ही त्रिणाचिकेताग्नि का चयन करने वाले और पञ्चाग्नि विद्या के ज्ञाता भी कहते हैं। यहाँ सूत्र में कर्मफल भोक्ता जीवात्मा के संग जिस दूसरे व्यक्ति का वर्णन है, वही ब्रह्म है। छाया और धूप के सदृश इनके धर्म (गुण) विपरीत हैं। छाया में जो आलोक होता है, वह धूप के कारण ही होता है। अत: यहाँ जीव को छाया रूप से एवं परमात्मा को धूप के रूप में स्वीकारना चाहिए; क्योंकि जीव सांसारिक भोगों में आबद्ध होने से 'छाया' रूप है और ब्रह्म संसार से मुक्त (निर्लिप्त) होने से प्रकाश स्वरूप है। सर्वव्यापक ब्रह्म का साक्षात् करने के लिए एकमात्र योग्य स्थान हृदय रूपी गुहा ही है। अत: हृदय में ब्रह्म का वास होना अनुचित नहीं है। ब्रह्म की उपासना ही सर्वोत्तम है। उपासना से ही ब्रह्म की प्राप्ति होना सम्भव है। छाया एवं धूप के गुणों में पृथक्ता है,अत: जीव और ब्रह्म में उन धर्मों की पृथक्ता का आरोप भी उचित ही है। जीव अज्ञानी एवं विषय-भोगों में संलिप्त रहता है और ब्रह्म ज्ञानी एवं विषय भोगों से परे है। इस विशेषता के कारण दोनों की पृथक्ता स्पष्ट है। इन सभी तथ्यों से प्रमाणित हो जाता है कि सूत्र में वर्णित दोनों से अभिप्राय जीवात्मा और परमात्मा से ही है। सूत्र में वर्णित जीवात्मा के संग परमात्मा को सर्वोत्तम कर्मों के फल का भोक्ता कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि परब्रह्म ही समस्त देवता आदि के रूप में प्रकारान्तर से सभी यज्ञ एवं तप रूपी श्रेष्ठ कर्मों के भोगने वाले हैं। फिर भी उनका भोक्तापन सर्वथा दोषरहित है, अत: वे भोक्ता होते हुए भी अभोक्ता ही हैं॥११॥

अगले सूत्र में उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए आचार्य एक अन्य हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं—

(४३) विशेषणाच्च॥१२॥

सूत्रार्थ— विशेषणात् = (आगे के सूत्रों में) दोनों (जीवात्मा-परमात्मा) के लिए अलग-अलग विशेषण दिये गये हैं, अत:; च = भी (उक्त दोनों भोक्ताओं को जीवात्मा-परमात्मा मानना उचित है)।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में वर्णित दोनों भोक्ता जीवात्मा और परमात्मा ही हैं; क्योंकि यह बात दोनों के प्रति अलग-अलग विशेषणों से परिपुष्ट हो जाती है। उक्त सूत्र में जीव और ब्रह्म को अंशत्व बोधरूप छाया और धूप के रूप में संबोधित किया गया है। जीवात्मा मननकर्त्ता है और बह्म मनन करने के लिए है॥१२॥

यहाँ शिष्य जिज्ञासा करता है कि ब्रह्म की प्राप्ति हृदय में होती है, अत: हृदय में स्थित कहना तो ठीक है; किन्तु छा. ४/१५/१ में वर्णित नेत्र में स्थित पुरुष ब्रह्म ही है। यहाँ सूत्र में वर्णित नेत्र स्थित पुरुष कौन है ? इसी का निर्णय करने के लिए आचार्य अगला प्रकरण प्रारम्भ कर रहे हैं—

(४४) अन्तर उपपत्तेः॥१३॥

सूत्रार्थ— अन्तर: = जो अन्तर्यामी है अर्थात् जो नेत्र के अन्दर देखने की क्षमता के रूप में विद्यमान होता है,

वही ब्रह्म है। उपपत्तेः = उपपत्ति (ऐसा मानने) से ही उक्त प्रसंग की संगति मिलती है।

व्याख्या— उपपत्ति-(युक्ति) से यह प्रमाणित हो जाता है कि स्थूल के अन्दर सूक्ष्म पदार्थ विद्यमान रहता है। समस्त चर-अचर प्राणियों के अन्तस् में निवास करने के कारण ही ब्रह्म को अन्तर्यामी कहा गया है। छा ४/१५/१ के अनुसार- 'नेत्र के अन्दर जो पुरुष दृष्टिगोचर हो रहा है, वही आत्मा है, अमृत है, अभय है और वही ब्रह्म है। इसके पश्चात् उसी को 'संयद्वाम (सब कुछ प्राप्त)', 'वामनीः (कर्मफल दाता)' और 'भामनीः'(लोक-लोकान्तरों में प्रकाशित) कहकर अन्त में इन विद्याओं का फल अर्चिमार्ग से ब्रह्म को प्राप्त होना कहा गया है। मस्तिष्कगत हृदय में स्थित और योगीजनों के नेत्रों में परिलक्षित होने वाला निर्लेप पुरुष ब्रह्म के अतिरिक्त और दूसरा कोई नहीं हो सकता। इस प्रकार उक्त प्रकरण पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि नेत्र के मध्य में दृष्टिगोचर होने वाला पुरुष एकमात्र ब्रह्म ही है। जीवात्मा या प्रतिच्छाया के लिए ऐसा कथन उचित नहीं है; क्योंकि ब्रह्मविद्या के प्रसंग में उसका उल्लेख करके उसे आत्मा, अमृत और ब्रह्म कहा है। अतः इन विशेषणों की समीचीनता ब्रह्म में ही हो सकती है, अन्य दूसरों में नहीं॥१३॥

अब यहाँ यह आशंका होती है कि ब्रह्म को नेत्र में दृष्टिगोचर होने वाला क्यों कहा गया है ? वह किसी विशेष स्थान आदि में रहने वाला थोड़े ही है ? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(४५) स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

सूत्रार्थ— स्थानादि = श्रुति में विभिन्न स्थलों पर ब्रह्म के लिए विशेष स्थान आदि का, व्यपदेशात् = कथन होने से, च = भी (नेत्र के मध्य में स्थित पुरुष ब्रह्म ही है)।

व्याख्या— शास्त्रों में जगह-जगह पर ब्रह्म को समझाने के लिए उनके स्थान, नाम, रूप आदि का उल्लेख किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१/७/३-२३) में ब्रह्म को पृथ्वी आदि विभिन्न स्थलों में विद्यमान कहा गया है। श्रुतियों में इसी तरह से जगह-जगह पर वर्णन मिलता है। ऐसे ही योगीजनों के द्वारा चक्षु में भी ब्रह्म उपासनीय भाव से दृष्टिगोचर होता है। अतः यहाँ ब्रह्म को चक्षु में दृष्टिगोचर होने वाला कहना अनुचित नहीं है; क्योंकि ब्रह्म निर्विकार है तथा चक्षु में दृष्टिगोचर होने वाला पुरुष भी चक्षु के दोषों से सर्वथा विकाररहित रहता है। इस समानता के द्वारा ब्रह्म का यथार्थ रूप बतलाने के लिए इस प्रकार कहना ठीक ही है॥१४॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त सिद्धान्त (कथन) को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

(४६) सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१५॥

सूत्रार्थ— च = तथा, सुखविशिष्टाभिधानात् = (नेत्र के मध्य स्थित पुरुष को) आनन्दयुक्त कहा गया है, इसलिए; एव = ही (यह स्पष्ट है कि वह एकमात्र ब्रह्म ही है)।

व्याख्या— छा.उ. १४/१५/१ में यह प्रसङ्ग आया है कि 'नेत्रान्तर्गत जो पुरुष परिलक्षित होता है, वही आत्मा है। इसके उपरान्त आगे 'ब्रह्म' पद निर्देशन के साथ ही उसे अमृत, अभय आदि कहकर एवं अन्य कुछ आधारों पर यह स्पष्ट किया कि यही ब्रह्म भी है।' इस कथन में निर्भयता और अमृतत्व-ये दोनों ही सुखानुभूति के द्योतक हैं। योगीजन नेत्रान्तर्गत स्थित ब्रह्म की उपासना करते हैं, यह कथन भी उचित है क्योंकि वह ब्रह्म सुखमय ही कहा गया है। श्रुति (छा.उ. ४/१०/५) में जब अग्नियों के सदृश आचार्यों ने एकत्र होकर उपदेश दिया कि जो 'कं' अर्थात् सुख है, वही 'खं' अर्थात् आकाश है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह ब्रह्म आकाश के सदृश अतिसूक्ष्म, सर्वव्यापी एवं आनन्द स्वरूप है। प्राण ही ब्रह्म है, सुख ही ब्रह्म है, इस प्रकार से वह सुख विशिष्ट आनन्दमय नेत्रस्थित होने के कारण ब्रह्म ही है। उसे ब्रह्म ही समझना चाहिए॥१५॥

अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त युक्ति के अतिरिक्त और भी कुछ समाधान दे रहे हैं—

(४७) श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६ ॥

सूत्रार्थ— श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात् = उपनिषद् अर्थात् आत्मज्ञान (रहस्य-विज्ञान) के रहस्य को श्रवण कर लेने वाले ब्रह्मवेत्ता की जो गति कही गई है, वही गति इस पुरुष को जानने वाले की भी बतलायी गई है, इससे; च = भी (सिद्ध होता है कि चक्षु में परिलक्षित होने वाला पुरुष ब्रह्म ही है)।

व्याख्या— उपनिषद् आदि आत्मज्ञान के रहस्य को श्रवण कर आत्मसात् कर लेने वाले ज्ञानी जनों(ब्रह्मवेत्ता) की जो गति कही गई है, वही गति नेत्रान्तर्गत स्थित पुरुष को जानने वाले की भी कही गई है। यही गति क्रम उपकोसल नामक ब्रह्मचारी के प्रति कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उपकोसल को ब्रह्म का ही उपदेश दिया गया है। अत: अक्षि में दृष्टिगोचर होने वाला पुरुष ब्रह्म ही है।

प्र. उ. (१/१०) में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है-तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एवं ज्ञान द्वारा आत्मा को जानकर उत्तरायण-मार्ग से गमन करता हुआ ज्ञानी सूर्यलोक को प्राप्त होता है। यही प्राणों का केन्द्र है। यह अमृत और अभय पद है। यही सर्वोत्कृष्ट गति है। इसे प्राप्त कर वह महानात्मा पुन: जन्म-मरण के चक्र में नहीं फँसता। ठीक ऐसा ही कथन छा. ४/१५/५ में भी मिलता है। गीता ८/२४ में भी ब्रह्मवेत्ता की गति का ऐसा ही उल्लेख मिलता है। छान्दोग्य में नेत्र पुरुष के वेत्ता की यही गति उक्त प्रसंग द्वारा व्यक्त की गई है। इस प्रकार आत्मा के रहस्य को श्रवण करने वाले व्यक्ति की गति का यह कथन नेत्र पुरुष के ब्रह्म होने का स्पष्ट प्रमाण है। इस गति को देवयान मार्ग (देवपथ या ब्रह्मपथ) भी कहते हैं। देवों के द्वारा यह मार्ग प्राप्त किया जाता है, अत: यह 'देवपथ' तथा ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग होने से 'ब्रह्मपथ' है। इस रीति से जो ब्रह्म को पा लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है, वह पुन: इस जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता। अत: यह मार्ग ब्रह्मवेत्ताओं का है। इससे भी सिद्ध होता है कि अक्षि-पुरुष ब्रह्म ही है ॥१६ ॥

यदि नेत्र के मध्य (भीतर) स्थित प्रतिबिम्ब, नेत्रेन्द्रिय के प्रमुख देवता या जीवात्मा इन दो में से किसी एक को नेत्र का अन्तर्वर्ती पुरुष मान लें, तो क्या आपत्ति है ? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान दे रहे हैं—

(४८) अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतर: ॥१७ ॥

सूत्रार्थ— अनवस्थिते: = अन्य किसी के नेत्र में स्थित न रहने से, च = और, असम्भवात् = अन्य किसी में सम्भव न होने से, इतर: = परब्रह्म के सिवाय दूसरा कोई भी, न = नहीं है।

व्याख्या— परब्रह्म के सिवाय अन्य दूसरा कोई भी किसी के चक्षु में विद्यमान नहीं रह सकता। अत: योगी-जनों के चक्षुओं में स्थित पुरुष ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। यदि आशंका करें कि चक्षु में किसी दूसरे का प्रतिबिम्ब हो सकता है, तो यह इस कारण उचित नहीं है कि नेत्रेन्द्रिय में प्रतिबिम्ब दृश्य बदलते रहते हैं। जिस क्षण जो दृश्य स्थित होता है, उस क्षण उसी का प्रतिबिम्ब चक्षु में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है तथा उसके अलग होते ही अदृश्य हो जाता है। जीवात्मा भी मन के द्वारा समय-समय पर भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करता रहता है और सभी चक्षुओं में सतत समान दृश्य स्थित नहीं रह सकता। सतत दृष्टिगोचर होने वाला पुरुष तो एकमात्र परब्रह्म ही है। नेत्र में परिलक्षित होने वाले पुरुष के जो अमृतत्व और निर्भयत्व आदि गुण हैं, वे ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी में असम्भव हैं। अत: उपर्युक्त तीनों में से किसी को नेत्र के मध्य स्थित पुरुष नहीं माना जा सकता। इसलिए परब्रह्म को ही यहाँ नेत्र में दृष्टिगोचर होने वाला पुरुष मानना ठीक होगा ॥१७ ॥

उक्त प्रकरण में यह कहा गया है कि श्रुति में स्थान-स्थान पर ब्रह्म के लिए पृथक्-पृथक् स्थानादि का निर्देश किया गया है। अब अगले सूत्र से आचार्य अधिदैव, अधिभूत आदि में उस ब्रह्म की व्याप्ति कहकर उसी तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए आगे का प्रकरण शुरू करते हैं—

(४९) अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्॥१८॥

सूत्रार्थ— अधिदैवादिषु = अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म आदि समस्त प्रकरणों में, तद्धर्मव्यपदेशात् = उस (ब्रह्म) के धर्म का उपेदश होने से वह, अन्तर्यामी = अन्तर्यामी ब्रह्म ही है।

व्याख्या— बृहदारण्यकोपनिषद् ३/७ में प्रसंग आता है कि ऋषि उद्दालक जी ने याज्ञवल्क्य मुनि से सर्वप्रथम सूत्रात्मा के सन्दर्भ में पूछा और फिर उस अन्तर्यामी के विषय में पूछा कि जो इस लोक और परलोक को एवं समस्त प्राणियों को उनके अन्तस् में रहकर नियन्त्रण में रखता है, वह अन्तर्यामी कौन है? उक्त प्रकरण का उत्तर देते हुए ऋषि ने सूत्रात्मा तो वायु को बतलाया और अन्तर्यामी का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए उसे जड़-चेतनात्मक समस्त प्राणियों, सभी इन्द्रियों एवं सम्पूर्ण जीवों का नियन्त्रक बतलाते हुए अन्त में ऐसा कहा - 'यह तुम्हारा अमृत स्वरूप दिखाई नहीं देता, किन्तु स्वयं ही सबको देखता है। वह सुनने में न आने वाला है; किन्तु स्वयं सबकी सुनता है, मनन करने में न आने पर भी वह सबका मनन करने वाला है। वह विशेष रूप से किसी के जानने में न आने पर भी स्वयं सभी को भली भाँति जानता है। ऐसा यह अन्तर्यामी आत्मा अमृतमय है। इससे परे सभी कुछ नष्ट होने वाला है। यहाँ सूत्र में आये महत्त्व सूचक विशेषण एकमात्र ब्रह्म में ही समान रूप से लागू हो सकते हैं। जीव का अन्तर्यामी आत्मा (ब्रह्म) के अतिरिक्त अन्य और कोई नहीं हो सकता। अत: उक्त प्रतिपादनों से यह सिद्ध हुआ कि इस प्रसङ्ग में कहा जाने वाला अन्तर्यामी ब्रह्म ही है, यही मानना चाहिए॥१८॥

उक्त सूत्र में विधि-मुख से यह सिद्ध किया गया है कि अन्तर्यामी ब्रह्म ही है। अब अगले सूत्र में आचार्य सिद्ध करते हैं कि अव्यक्त जड़-प्रकृति अन्तर्यामी नहीं हो सकती—

(५०) न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात्॥१९॥

सूत्रार्थ— च = और, स्मार्तम् = सांख्य स्मृति द्वारा प्रतिपादित जड़-प्रकृति, न = अन्तर्यामी नहीं है, अतद्धर्माभिलापात् = क्योंकि इस प्रकरण में कहे हुए द्रष्टापन आदि धर्म प्रकृति या जीव में नहीं हो सकते।

व्याख्या— सांख्य-स्मृति में जहाँ प्रतिपादित जड़-प्रकृति के धर्मों का उल्लेख मिलता है, वहाँ चैतन्य परब्रह्म के धर्म ही प्रतिपादित हुए हैं। इस कारण वे धर्म अन्तर्यामी ब्रह्म के कदापि नहीं हो सकते। जड़ प्रकृति के धर्मों का उल्लेख अन्तर्यामी के लिए नहीं, वरन् चेतन परब्रह्म के धर्मों का ही विस्तार से विवेचन किया गया है। इस प्रकार से वहाँ पर कहा हुआ अन्तर्यामी प्रकृति नहीं हो सकती। अत: यहाँ इस प्रकरण में यही सिद्ध होता है कि 'अन्तर्यामी' नामक शब्द से एकमात्र अमृत स्वरूप ब्रह्म का ही वर्णन हुआ मानना चाहिए॥१९॥

यह सही है कि जड़ होने से प्रकृति को अन्तर्यामी नहीं कह सकते; किन्तु जीवात्मा तो चेतन है और वह शरीर एवं इन्द्रियों के अन्दर रहने वाला तथा उनका नियमन करने वाला भी स्पष्ट है, अत: उसी को अन्तर्यामी मान लिया जाये, तो क्या आपत्ति है? अगले सूत्र में आचार्य इसी आशंका का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(५१) शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते॥२०॥

सूत्रार्थ— शारीर: = देह में निवास करने वाला जीवात्मा, च = भी, (न = अन्तर्यामी नहीं है,) हि = क्योंकि, उभये = दोनों - माध्यन्दिनी और काण्व शाखा वाले, अपि = भी, एनम् = इस जीवात्मा को, भेदेन = भेद पूर्वक (अन्तर्यामी से अलग मानकर), अधीयते = अध्ययन करते हैं।

व्याख्या— माध्यन्दिनी और काण्व-इन दोनों शाखा वाले विद्वज्जनों ने जीवात्मा और ब्रह्म का भेद स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। ये दोनों अन्तर्यामी को पृथिवी आदि की भाँति जीवात्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करने वाला मानते हैं। इन्होंने जीवात्मा को नियम्य और अन्तर्यामी को नियन्ता कहा है। काण्व ने **'यो विज्ञाने तिष्ठन्**.....(बृ.उ. ३/७/११) सूत्र द्वारा कहा कि जो विज्ञान में निहित और विज्ञान का नियामक है तथा

माध्यन्दिनी शाखा वालों ने **य आत्मनि तिष्ठन्** ....(शतपथ ब्राह्मण १४/५/३०) द्वारा बतलाया कि जो जीवात्मा में रहने वाला और उसका नियमन करने वाला है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म-इन दोनों का अलग-अलग वर्णन होने से भेद स्वत: सिद्ध हो जाता है। विज्ञान या आत्मा का नियमन करने वाला ब्रह्म ही हो सकता है, जीवात्मा कभी भी नहीं हो सकता। अत: सिद्ध हो जाता है कि जीवात्मा और ब्रह्म का पृथक्-पृथक् विवेचन होने से वहाँ 'अन्तर्यामी' पद परब्रह्म का वाचक है, जीव का नहीं॥२०॥

यहाँ जिज्ञासा उठती है कि उक्त सूत्र में कहा गया है कि शरीर अन्तर्यामी नहीं हो सकता; किन्तु अन्तर्यामी प्रसंग में ब्रह्म के शरीर का वर्णन मिलता है। पृथिव्यादि सभी लोक एवं जीवात्मा को उस अन्तर्यामी ब्रह्म का 'शरीर' बतलाया है। ऐसी स्थिति में तब ब्रह्म को 'शरीर' क्यों नहीं माना जाता ? उक्त आशंका का समाधान आचार्य इस सूत्र में करते हैं—

(५२) अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

सूत्रार्थ— अदृश्यत्वादि-गुणक: = अदृश्यत्व आदि गुणों से युक्त परब्रह्म ही है; धर्मोक्तेः = क्योंकि उस जगह उसी के सर्वज्ञता आदि धर्म कहे गये हैं।

व्याख्या— ब्रह्म सदैव अदृश्यत्व आदि गुणों से युक्त धर्म वाला है। उपर्युक्त सूत्र में अन्तर्यामी के जिन पृथिवी आदि 'शरीरों' का वर्णन किया गया है, वह कल्पना के आधार पर एक रूपक मात्र है। सम्पूर्ण जगत् में संव्याप्त होकर उसके नियामकत्व का वह प्रतिपादन है। जीव के शरीर सदृश उस ब्रह्म के शरीर का कथन नहीं है। जीव अपने पुण्यापुण्य के अनुसार जिस तरह प्राकृत देह को प्राप्त हो, निरन्तर जन्म-मृत्यु के बन्धन में आरूढ़ रहता है, वैसी स्थिति ब्रह्म में सम्भव नहीं है। इस कारण 'शरीर' पद में उसका समावेश नहीं होता। वह (ब्रह्म) सतत अदृश्यत्व गुणों से सम्पन्न होता है। उस ब्रह्म के ऐसे धर्मों का अनेकों जगह वर्णन मिलता है। मु.उ. के प्रारम्भ में ब्रह्मा द्वारा अपने पुत्र अथर्व के लिए ब्रह्म विद्या के प्रवचन का उल्लेख प्राप्त होता है। ब्रह्मवेत्ता ऋषियों ने जानने योग्य दो विद्याएँ-परा और अपरा बतलायीं। उनमें से अपरा विद्या तो वेद-वेदाङ्ग है और परा वह है, जिससे उस अक्षर स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है। आगे इसी उपनिषद् के १/१/६ में अक्षरत्व का वर्णन इस तरह मिलता है- जो अदृश्य है, अग्राह्य है, ज्ञानेन्द्रियों का अविषय है, अरूप है, अचक्षुष्य है, श्रोत्र, हस्त एवं पाद आदि से रहित है, सर्वत्र व्याप्त है, अति सूक्ष्म है, अव्यय- अपरिणामी है, जो समस्त भूतों का कारण है, ऐसे अक्षरतत्त्व को मनीषीगण देखते व जानते हैं। उक्त सभी गुण एक मात्र उस अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर में ही हो सकते हैं, उससे पृथक् अन्य किसी में नहीं हो सकते। प्रकृति एवं प्राकृत तत्त्वों को उसके शरीर रूप में उल्लेख किये जाने से ब्रह्म 'शरीर' नहीं हो सकता॥२१॥

उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि के लिए आचार्य इस सूत्र में एक अन्य हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं—

(५३) विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ॥२२॥

सूत्रार्थ— च = और, विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् = ब्रह्मसूचक विशेषणों का कथन होने एवं जीव और प्रकृति से ब्रह्म का भेद कहे जाने के कारण, इतरौ = दूसरे जीव और प्रकृति, न = अदृश्यत्व आदि गुणों से सम्पन्न जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता।

व्याख्या— सूत्र में इस प्रकरण के सन्दर्भ में अदृश्यत्व आदि गुणों से युक्त जो विशेषण कहे गये हैं और जिसे समस्त भूत-प्राणियों एवं जगत् का कारण कहा गया है, वे ब्रह्म में ही घटित होते हैं। वे न तो जड़-प्रकृति के अनुकूल हो सकते हैं और न ही जीव के अनुकूल। मुण्डकोपनिषद्- ३/१/७ में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है- 'वह देखने वालों के हृदय में निहित है' अर्थात् वह ब्रह्म हृदय रूपी गुफा में स्थित है। तदनुसार जीव एवं प्रकृति से ब्रह्म की पृथक्ता सहज ही स्पष्ट हो जाती है। मुण्डक ३/१/२ में भी उल्लेख देखने को मिलता है। इस प्रकार से प्रस्तुत सूत्र में प्रत्यक्ष रूप से शब्दों के माध्यम से ब्रह्म को जीव एवं प्रकृति से भिन्न

कहा गया है। अत: यहाँ पर स्पष्ट हो जाता है कि जीव एवं प्रकृति -इन दोनों में से कोई भी अदृश्यत्व आदि गुणों से सम्पन्न जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता॥२२॥

अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त प्रकरण की पुष्टि के लिए पुनः एक प्रमाण और दे रहे हैं—

(५४) रूपोपन्यासाच्च॥२३॥

सूत्रार्थ— रूपोपन्यासात् = ब्रह्म के विराट् रूप का काल्पनिक कथन होने से, च = भी (ब्रह्म ही समस्त भूत-प्राणियों एवं जगत् का कारण सिद्ध होता है)।

व्याख्या— शास्त्रों-श्रुतियों में ब्रह्म का कल्पना के आधार पर विराट्-रूप में वर्णन मिलता है। काल्पनिक कथन औपन्यासिक शैली में होते हैं। यहाँ सूत्र में 'च' पद इस भाव को व्यक्त करता है, जो कि पूर्व सूत्र से जिस अर्थ के प्रतिपादन में हेतु दिया गया है, उसी अर्थ के प्रतिपादन में यह हेतु है। .....इक्कीसवें सूत्र के '**अदृश्यत्वादिगुणकः**' एक वचनान्त पद का द्विवचनान्तपद में विपरिणाम कर पूर्व सूत्र के '**नैतरौ**' पदों के सहित अन्वय किया गया । सूत्र में इन दोनों पदों की इसी रूप में अनुवृत्ति प्रस्तुत की गई है। तदनुसार सूत्र का अर्थ हुआ-रूप का उपन्यास-कथन होने के कारण भी जीव और प्रकृति मु.उ. (१/१/६) के सन्दर्भ में पठित अदृश्यत्वादि गुणों से युक्त नहीं माने जा सकते।

मुण्डकोपनिषद् (२/१/४) में अदृश्यत्व आदि गुणों से युक्त ब्रह्म के सर्वलोकमय विराट् स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—'इस ब्रह्म का सिर अग्नि है, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र हैं; दिशाएँ दोनों कान हैं तथा उत्पन्न हुए वेद उसकी वाणी है। वायु इसका प्राण एवं सम्पूर्ण विश्व हृदय है। इसके पैरों से पृथ्वी का जन्म हुआ। यही सभी भूतों का आत्मा है।' इस तरह से ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन करके उसे सबका आत्मा कहा गया है। अत: उक्त प्रकरण में भूतयोनि के नाम से परब्रह्म का ही वर्णन है, यही सत्य है। ऐसी कल्पना करना अथवा विराट् रूप का वर्णन करना परमात्मा के निमित्त ही होता है, अन्य किसी के प्रति कदापि नहीं हो सकता॥२३॥

अब आशंका यह होती है कि छा.उ. (५/१८/२) में 'वैश्वानर' के स्वरूप का उल्लेख करते हुए 'द्युलोक' को उसका सिर कहा है। 'वैश्वानर' शब्द जठराग्नि वाची है। अत: उक्त उपनिषद् का यह वर्णन जठराग्नि के सन्दर्भ में है या फिर अन्य किसी के सन्दर्भ में? अगले सूत्र में आचार्य इसी आशंका का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(५५) वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्॥२४॥

सूत्रार्थ— वैश्वानरः = वैश्वानर नामक ब्रह्म का ही वर्णन है, साधारणशब्दविशेषात् = (क्योंकि) उस वर्णन में 'वैश्वानर और आत्मा' इन सामान्य शब्दों की अपेक्षा (ब्रह्म-बोधक) विशेष शब्दों का प्रयोग किया गया है।

व्याख्या— सामान्य वैश्वानर की सङ्गति में असामान्य गुणों के वर्णन से सिद्ध होता है कि 'वैश्वानर' ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् में ५/११/१ से प्रारम्भ होकर पाँचवें अध्याय की समाप्ति तक इसकी चर्चा इस प्रकार की गई है- 'प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल' - ये पाँचों ऋषि सद्‌गृहस्थ एवं महान् वेदवेत्ता थे, इन लोगों ने आपस में विचार किया कि — '**को नु आत्मा किं ब्रह्म,**' अर्थात् 'हमारा आत्मा कौन है,' 'ब्रह्म क्या है?' जब ये पाँचों निर्णय न कर सके, तो निश्चय किया कि 'इस समय ऋषि उद्दालक वैश्वानर आत्मा के जानकार हैं, हम सब उन्हीं के पास चलें।' जब ये सभी उद्दालक जी के पास पहुँचे, तो उनने अनुमान किया कि ये लोग मुझसे कुछ न कुछ पूछेंगे, लेकिन मैं इन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पाऊँगा। यह सोचकर वे उन समस्त ऋषियों को लेकर राजा अश्वपति के समक्ष उपस्थित हुए; क्योंकि उस समय वही एक मात्र इस वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता थे। राजा ने उन सभी का सम्मान करते हुए अगले दिन यज्ञ में शामिल होने एवं प्रचुर धन देने को कहा। उन ऋषियों ने कहा कि 'हमें धन नहीं चाहिए, हम जिस उद्देश्य को लेकर

आये हैं, आप हमें वही प्रदान करें। हमें पता लगा है कि आप वैश्वानर आत्मा के साक्षात्कर्त्ता हैं, कृपया आप हम सभी के लिए उसी का उपदेश करें।' अश्वपति ने उन सबको अगले दिन बुलाया और क्रमशः प्रत्येक से पूछा कि 'इस विषय में आप क्या जानते हैं? उनमें से प्राचीनशाल ने कहा- 'मैं द्युलोक को आत्मा जानकर उपासना करता हूँ।' सत्ययज्ञ ने कहा- 'मैं सूर्य की उपासना आत्मा के रूप में करता हूँ।' इन्द्रद्युम्न ने कहा— 'मैं वायु की उपासना करता हूँ।' ऋषिजन ने आकाश की और बुडिल ने अपने आप को जल का उपासक कहा। तदनन्तर राजा ने कहा कि 'आप लोग वैश्वानर के एक-एक अंग की उपासना करते हैं; अतः यह सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है; क्योंकि उस विश्व के आत्मा वैश्वानर का मस्तक द्युलोक है, नेत्र सूर्य है, प्राण वायु है, देह का मध्य भाग आकाश है, जल बस्ति-स्थान है, धरती दोनों चरण हैं, वेदी वक्षस्थल है, लोम दर्भ है, गार्हपत्य अग्नि हृदय है, अन्वाहार्यपचन अग्नि मन है व मुख आहवनीय अग्नि है। इस प्रकार उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि विश्व का आत्मा सदृश विराट् पुरुष ब्रह्म को ही वैश्वानर कहा गया है। इस प्रकरण में जठराग्नि आदि के वाचक सामान्य शब्दों की अपेक्षा, ब्रह्म के वाची विशिष्ट शब्दों का सर्वाधिक स्थलों में प्रयोग किया गया है॥२४॥

आचार्य अगले सूत्र में उक्त तथ्य को दृढ़ करने हेतु दूसरा कारण बतला रहे हैं—

(५६) स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति॥२५॥

सूत्रार्थ— स्मर्यमाणम् = स्मृतियों में जो विराट् पुरुष का वर्णन हुआ है, अनुमानम् = वह यथार्थतः श्रुति के वचन का अनुमान कराता हुआ वैश्वानर के परब्रह्म होने का निश्चय करने वाला है, इति स्यात् = इस प्रकार यहाँ इस प्रकरण में यह सिद्ध होता है कि 'वैश्वानर' परब्रह्म परमात्मा ही है।

व्याख्या— स्मृतियाँ भी वैश्वानर को ब्रह्म वाचक ही मानती हैं। मनुस्मृति में **'लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं'** द्वारा ब्रह्म के वैश्वानर रूप का वर्णन किया गया है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- 'मैं वैश्वानर रूप से प्राणियों के देहाश्रित होकर अवस्थान करता हूँ। ब्रह्म के विराट् स्वरूप का ज्ञान वेदादि अन्य शास्त्रों के वर्णन से होता है। छा.उ. ५/१८/२ के प्रसंग में वैश्वानर को परमात्मा के रूप में जाना जाता है। अथर्व. १०/७/३२-३४ में भी 'ब्रह्म' के उस विराट् स्वरूप का उल्लेख मिलता है। महा. के शान्तिपर्व (४७/७०) में इस प्रकार का वर्णन मिलता है- 'जिसका मुख अग्नि है, द्युलोक मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथिवी दोनों चरण, सूर्य नेत्र हैं एवं दिशाएँ कर्ण हैं। ऐसे उस विराट् ब्रह्म को प्रणाम है। अतः यहाँ उस ब्रह्म के विराट् रूप को ही वैश्वानर कहा गया है, ऐसा स्मृति एवं श्रुति वचनों से भी प्रमाणित होता है। इसलिए जहाँ पर भी आत्मा या परमात्मा के वर्णन में 'वैश्वानर' शब्द मिले, वहाँ पर उसे ब्रह्म के विराट् रूप का ही वाचक जानना चाहिए॥२५॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त तथ्य की सिद्धि के लिए स्वयं ही आशङ्का उपस्थित कर समाधान कर रहे हैं—

(५७) शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते॥२६॥

सूत्रार्थ— शब्दादिभ्यः = शब्दादि हेतुओं के द्वारा (अर्थात् श्रुतियों में वैश्वानर शब्द अग्नि के अर्थ में विशिष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है और यहाँ इस सूत्र में गार्हपत्य आदि अग्नियों को वैश्वानर का अंग कहा गया है, इसलिए); च = और, अन्तः प्रतिष्ठानात् = (श्रुति में वैश्वानर को देह के) अन्तस् में स्थित होने से, चेत् = ही, इति = (यदि) ऐसा कहो कि, न = (ब्रह्म शब्द वैश्वानर का वाचक) नहीं है, न = (तो) ऐसा नहीं है; तथा दृष्ट्युपदेशात् = क्योंकि वहाँ वैश्वानर में ब्रह्मदृष्टि से दिये गये उपदेश द्वारा, असम्भवात् = जठराग्नि के लिए यह विशेषण संभव नहीं हो सकते, च = और, एनम् = इस वैश्वानर को, पुरुषम् = 'पुरुष' नाम से, अपि = भी, अधीयते = पढ़ते हैं (अतः उक्त प्रकरण में वैश्वानर शब्द ब्रह्म का ही वाचक है)।

व्याख्या— यदि ऐसा कहा जाये कि वैश्वानर शरीरधारी के अन्दर स्थित जठराग्नि है, ऐसा ही शब्दादि के हेतु से सिद्ध होता है, तो ऐसा कहना नितान्त भ्रममूलक है; क्योंकि श्रुतियों में जो उपदेश दिये गये हैं, उन सबसे यही सारतत्त्व निकलता है कि वैश्वानर विराट् पुरुष रूप ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। शतपथ ब्रा.१०/६/१/११ में कहा गया है-'जो इस वैश्वानर अग्नि को पुरुष के आकार का एवं पुरुष के अन्तस् में स्थित जानता है।' इस तरह वैश्वानर शब्द अग्नि के विशेषण रूप से प्रयुक्त हुआ है। साथ ही जिस श्रुति पर विचार चल रहा है, उसमें भी गार्हपत्य आदि तीनों अग्नियों को वैश्वानर का अङ्ग कहा गया है। इसी प्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीता (१५/१४) में भी योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा- 'मैं ही वैश्वानर रूप से सभी भूत-प्राणियों के देह में स्थित होकर चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ। इस प्रकार इन सभी कारणों से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकरण में कहा हुआ 'वैश्वानर' भी ब्रह्म ही है। जठराग्नि या अन्य कोई नहीं॥२६॥

इस प्रसङ्ग के अन्तर्गत अलग-अलग उपास्य रूप से आये हुए 'दिव', 'आदित्य' 'वायु', 'आकाश', 'जल' एवं 'पृथिवी' भी वैश्वानर नहीं हैं, सूत्रकार अगले सूत्र में यही सिद्ध कर रहे हैं—

(५८) अत एव न देवता भूतं च ॥२७॥

सूत्रार्थ— अतः = उक्त कारणों से इस प्रकरण में, एव = ही (यही सिद्ध होता है कि), देवता = द्यौ, सूर्य, अग्नि आदि लोकों के अधिष्ठाता देवगण, च = और, भूतम् = आकाशादि भूत समूह, न = वैश्वानर नहीं है।

व्याख्या— उपर्युक्त किसी भी कारण से यहाँ इस प्रकरण में वैश्वानर का जठराग्नि या पञ्चभौतिक पदार्थ होना सिद्ध नहीं होता। यहाँ सूत्र में 'द्यौ','सूर्य', 'अग्नि' आदि लोकों को भी एवं आकाश, वायु आदि भूत समूह की अपने आत्मा-रूप में उपासना करने का प्रसङ्ग आया है। अतः आचार्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि गत सूत्र में कहे हुए कारणों से यह भी जान लेना चाहिए कि उन-उन लोकों के अभिमानी देवों एवं आकाश आदि भूतों का भी 'वैश्वानर' शब्द से ग्रहण नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड को वैश्वानर का शरीर कहा गया है। यह कहना न तो देवों के लिए सम्भव है और न भूतों के लिए ही सम्भव है। अतः यही समझना चाहिए कि 'जो विश्वरूप भी है और पुरुष भी है, वही वैश्वानर है।' इस उत्पत्ति-रचना के अनुसार ब्रह्म ही वैश्वानर है, यही यहाँ सिद्ध होता है॥२६॥

अब अगले सूत्र से सूत्रकार अन्य इतर आचार्यों के मतानुसार यह व्यक्त कर रहे हैं कि 'वैश्वानर' पद साक्षात् परब्रह्म का वाचक है, इसमें कोई विरोध नहीं। इसी आशय से सूत्रकार आचार्य जैमिनि का मत यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

(५९) साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥२८॥

सूत्रार्थ— जैमिनिः = आचार्य जैमिनि कहते हैं कि, साक्षात् = 'वैश्वानर' शब्द को साक्षात् ब्रह्म का वाचक मानने में, अपि = भी, अविरोधम् = किसी भी तरह का विरोध नहीं है।

व्याख्या— आचार्य जैमिनि कहते हैं कि 'वैश्वानर' शब्द को साक्षात् विश्व रूप परब्रह्म का वाचक स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है। उनके मतानुसार ब्रह्म के नेतृत्व बोध से तथा सर्व कारण रूप ब्रह्म बोधक 'वैश्वानर' शब्द के सदृश नयनादि गुण की संगति होने से अग्नि को भी साक्षात् ब्रह्म मान लेना उचित होगा। इस प्रकार से भी 'वैश्वानर' शब्द ब्रह्म का वाचक ही सिद्ध होता है। यहाँ पर जठराग्नि को प्रतीक मानकर उसके रूप में ब्रह्म की उपासना मानने की किसी भी तरह की जरूरत नहीं है।

यहाँ इस सूत्र में एवं आगे के सूत्रों में अन्य आचार्यों के नाम से सूत्रकार ने जो भाव व्यक्त किये हैं, उसका सूत्रकार के आशय के साथ इस विषय में कोई भेद नहीं है। आचार्य ने इस सन्दर्भ में प्रथम सूत्र से अपना जो आशय व्यक्त किया है, उसी को अंशतः अन्य आचार्यों के नाम से भी व्यक्त किया॥२८॥

इस प्रकार २९ से ३१ सूत्र तक विभिन्न आचार्यों के मत प्रस्तुत करते हुए ३२ वें सूत्र में अपना मत बतलाकर आचार्य इस द्वितीयपाद को समाप्त करते हैं। अब अगले सूत्र में सूत्रकार आचार्य आश्मरथ्य का मत बतला रहे हैं—

(६०) अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

सूत्रार्थ— आश्मरथ्यः = आचार्य आश्मरथ्य का, इति = यह कथन है कि, अभिव्यक्तेः = (भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिए) ब्रह्म का अवतरण होता है। (अविरोधः = इसलिए कोई विरोध नहीं है)।

व्याख्या— आचार्य आश्मरथ्य ने ब्रह्म का प्रादेश रूप से साकार होना माना है। उनका कथन है कि भक्तों पर कृपापूर्वक दर्शन देने के लिए भगवान् समय-समय पर उनकी श्रद्धानुसार विभिन्न रूपों में अवतरित होते हैं। अपने भक्तजनों को दर्शन, स्पर्श एवं प्रेम आदि के द्वारा आनन्दानुभूति कराने, उनका उद्धार करने और संसार में अपनी कीर्ति प्रसारित करके कथन-मनन से भक्तों को लाभान्वित करने के लिए मानव आदि के रूप में समय-समय पर अवतार लेते हैं। यह कथन केनोपनिषद् ३/२ और श्रीमद्भगवद्गीता ४/६-९ में तथा अन्य दूसरे आर्षग्रन्थों में देखने को मिलता है। इस प्रकार विराट् रूप में उस ब्रह्म को सगुण-साकार एवं देश-विशेष से सम्बन्धित स्वीकारने में किसी भी तरह का विरोध नहीं है। वह अविनाशी सत्ता जिस तरह निर्गुण-निराकार है, उसी तरह सगुण-साकार भी है। इसी तथ्य को माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्म के चार पादों का विवेचन करके सम्यक् रूप से कहने का प्रयास ऋषि ने किया है॥२९॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त विषय के सन्दर्भ में आचार्य बादरि का मत प्रस्तुत करते हैं—

(६१) अनुस्मृतेर्बादरिः ॥३०॥

सूत्रार्थ— बादरिः = आचार्य बादरि का कथन है कि, अनुस्मृतेः = अनुस्मरण-चिन्तन प्रादेश मात्र अर्थात् हृदय प्रदेश में उपासना काल में उस वैश्वानर ब्रह्म का स्मरण करने के लिए तथा उसको देश-विशेष से सम्बद्ध बतलाने में (कोई विरोध नहीं है)।

व्याख्या— आचार्य बादरि का कथन है कि, वैश्वानर आत्मा (ब्रह्म) का अनुस्मरण अर्थात् चिन्तन-मनन प्रादेश मात्र (हृदय प्रदेश) में किया जाता है। इसीलिए आचार्य बादरि के विचार से वैश्वानर (ब्रह्म) को प्रादेश मात्र कहा है। परब्रह्म यद्यपि देश, काल व पात्र से परे है, तब भी उनका सतत ध्यान और स्मरण करने हेतु उन्हें देश-विशेष में प्रतिष्ठित विराट् रूप मानने, कहने एवं जानने में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि ब्रह्म तो सर्वसमर्थ हैं। जो भी भक्त-साधक उन परम प्रभु का जिस-जिस रूप में ध्यान-पूजन करते हैं, उनकी मुक्ति हेतु वे उनको तदनुरूप प्राप्त होते हैं।

आचार्य आश्मरथ्य के मत से हृदय-क्षेत्र में ब्रह्म की अभिव्यक्ति के कारण 'प्रादेशमात्र' कथन है; किन्तु आचार्य बादरि ऐसे कथन का कारण उस क्षेत्र में स्थित ब्रह्म की उपासना होना बतलाते हैं। इन दोनों आचार्यों के मत में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों का कथन उचित है; क्योंकि ब्रह्म की उपासना उसी प्रदेश (क्षेत्र) में की जाती है तथा उसका साक्षात् भी वहीं होता है। यह तो मात्र एक अर्थ को प्रतिपादित करने की अलग-अलग रीतियाँ मात्र हैं। सूत्रकार को अर्थ की इस तरह की उपपत्ति में कोई आपत्ति नहीं है॥३०॥

अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त विषय के सन्दर्भ में आचार्य जैमिनि का मत प्रस्तुत करते हैं—

(६२) सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति॥३१॥

सूत्रार्थ— जैमिनिः = आचार्य जैमिनि का कथन, इति = इस प्रकार है कि, सम्पत्तेः = ब्रह्म अनन्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न है। अतः (उसे देश-विशेष से सम्बन्ध रखने वाला मानने में कोई विरोध नहीं है), हि = क्योंकि, तथा ऐसा ही भाव, दर्शयति = श्रुतियाँ भी दिखलाती (प्रकट करती) हैं।

व्याख्या— आचार्य जैमिनि का कथन इस प्रकार है कि परब्रह्म परमात्मा अनन्त गुणों-ऐश्वर्यों से युक्त है। इसलिए उस निर्विकार, निराकार, देशकालातीत ब्रह्म को सगुण, साकार एवं किसी देश-विशेष से सम्बन्ध रखने वाला मान लेने में किसी भी तरह का विरोध नहीं है; क्योंकि दूसरी अन्य श्रुतियाँ ठीक इसी तरह का भाव प्रकट करती हैं। मुण्डकोपनिषद् २/१/४ में भी ऋषि ने ऐसा ही भाव व्यक्त किया है। ऐश्वर्यवान् होने के कारण प्रादेशमात्रत्व भी उनकी अचिन्त्य शक्ति की परिचायक है; क्योंकि ब्रह्म विश्व-वसुधा के समस्त प्रदेशों-क्षेत्रों में अवस्थित रहता है। 'द्यु' से लेकर 'पृथिवी' पर्यन्त सभी लोकों का वैश्वानर के अंग रूप का उल्लेख मिलता है। यह उल्लेख जीव-देह के मस्तक (सिर) से चिबुक (ठोड़ी) तक सीमित है। देहांगों के साथ 'द्यु' आदि के इस सन्तुलन को यहाँ सूत्र में 'संपति' पद से अभिप्रेरित किया गया है। वैश्वानर का 'द्यु' से लेकर पृथिवी तक संव्याप्त होना, देह के अंगों में मस्तक से ठोड़ी तक व्याप्त कहा जाता है। ठोड़ी से मस्तक तक यह एक बालिश्त का प्रदेश कहा गया है। इस कारण सर्वत्र संव्याप्त वैश्वानर को प्रादेश मात्र कहा गया है। ऐसा ही उल्लेख शतपथ ब्रा. के उक्त प्रसंग (१०/६/१/१०-११) में भी दर्शाया गया है। ब्रह्म को 'प्रादेशमात्र' कहे जाने की तरह से कुछ स्थलों में इसे 'अंगुष्ठमात्र' भी कहा गया है। ऐसा वर्णन कठोपनिषद्- (२/१/१२-१३) के सन्दर्भ में देखने को मिलता है। यहाँ जीव के मध्य में 'अंगुष्ठमात्र' कहकर ब्रह्म के अस्तित्व को बतलाया गया है। उस क्षेत्र में चिन्तन-मनन ही ब्रह्म के लिए इस 'अंगुष्ठमात्र' के प्रयोग का कारण कहा गया है ॥३१ ॥

अब अगले सूत्र में आचार्य इन सभी प्रासंगिक उपदेशों (चर्चा-कथन) का निगमन करते (निष्कर्ष बताते) हुए प्रकरण को समाप्त कर इस द्वितीयपाद का उपसंहार करते हैं—

(६३) आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२ ॥

सूत्रार्थ— अस्मिन् = इस सैद्धान्तिक प्रकरण में, एनम् = इस ब्रह्म को, च = ही, आमनन्ति = मानते हैं। अर्थात् वैश्वानर आत्मा की उपासना के सन्दर्भ में आत्मज्ञान की इस विधि को अनेक प्रसंगों में बारम्बार उल्लेख करते हैं।

व्याख्या— इस सैद्धान्तिक प्रकरण में सर्वव्यापी, प्रादेशमात्र में स्थित, सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ परब्रह्म परमात्मा के विषय में ज्ञानीजन ऐसा ही प्रतिपादन करते हैं। यथार्थत: ब्रह्म के स्वरूप-प्रतिपादन में तर्क नहीं चलता; क्योंकि स्मृति आदि श्रुति-वचनों में भी ब्रह्म को तर्क बुद्धि से परे तथा अचिन्त्य कहा गया है। वह ब्रह्म सगुण, निर्गुण, साकार एवं निराकार, सविशेष- निर्विशेष आदि सभी कुछ है। अत: साधक को उसके स्मरण, चिन्तन-मनन में संलग्न हो जाना चाहिए। वह सर्वत्र संव्याप्त रहने वाली भगवद्सत्ता सभी देशों-प्रदेशों में सर्वदा उपस्थित रहती है। अत: उसको किसी भी देश-विशेष से संयुक्त रूप से मानना विपरीत नहीं है और वह सभी देशों-क्षेत्रों से सर्वदा ही निर्लिप्त रहता है। इसलिए उसको देश-काल व पात्र से परे मानते हुए चिन्तन-मनन में लग जाना चाहिए। वह वैश्वानर रूप ब्रह्म सभी रूपों में स्थित है, ऐसा मान लेना ही कल्याणप्रद सिद्ध होगा। अत: उपर्युक्त सूत्रों में वर्णित सभी आचार्यों की मान्यता सर्वदा उचित ही है ॥३२ ॥

॥ इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीय: पाद: ॥

॥ अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ॥

पूर्व के दोनों पाद में सर्वनियन्ता परब्रह्म परमेश्वर के व्यापक स्वरूप का सम्यक् रूप से प्रतिपादन किया गया। अब उसी अविनाशी ब्रह्म को सभी का आधार बतलाते हुए तृतीय पाद का शुभारम्भ किया जा रहा है-

(६४) द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥१॥

सूत्रार्थ— द्युभ्वाद्यायतनम् = आर्षग्रन्थों-श्रुतियों में जिसे स्वर्ग एवं पृथिवी आदि का आयतन अर्थात् आधार कहा गया है (वह ब्रह्म ही है); स्वशब्दात् = क्योंकि वहाँ 'आत्मा' शब्द उस ब्रह्म (परमात्मा) के लिए प्रयुक्त है।

व्याख्या— यहाँ परब्रह्म परमेश्वर को स्वर्गादि का आश्रय रूप तथा 'आत्मा' कहा गया है। श्रुति में इसे 'आत्मस्वरूप' एवं 'अमृत सेतु' आदि विशेषणों से युक्त बतलाया है। मंत्र में जिस आत्मा को सम्पूर्ण जगत् का आश्रय-आधार माना है, वह अविनाशी ब्रह्म का ही वाचक है। मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत '**यस्मिन् द्यौः पृथिवी** ......(२/२/५) में उल्लेख है कि 'जिसमें स्वर्ग, पृथिवी तथा उसके मध्य का आकाश एवं सम्पूर्ण प्राणों के सहित मन बँधा हुआ है, ऐसे ही उस एक मात्र सबके आत्मस्वरूप अविनाशी ब्रह्म को जानना चाहिए और अन्य सभी तरह की बातों-विचारों को हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिए। यही अमृत का सेतु है।' यहाँ जिस एक आत्मा को उपर्युक्त ऊर्ध्व से ऊर्ध्व स्वर्ग एवं अधः पृथिवी आदि सम्पूर्ण विश्व का आश्रय स्थल कहा है, वह एकमात्र परमेश्वर ही है, जीव या प्रकृति नहीं; क्योंकि उसमें प्रयुक्त 'आत्मा' शब्द ब्रह्म का बोध कराने वाला है॥१॥

अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त तथ्य की प्रामाणिकता के लिए एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

(६५) मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च॥२॥

सूत्रार्थ— मुक्त = (उस ब्रह्म को) मुक्त पुरुषों के लिए, उपसृप्य = प्राप्तव्य, व्यपदेशात् = कहा गया है, (अतः वह जीवात्मा नहीं हो सकता)।

व्याख्या— मुण्डकोपनिषद् ३/२/८ के अनुसार 'जैसे प्रवाहित होती हुई सभी नदियाँ अपने नाम-रूप का परित्याग कर सागर में समाहित हो जाती हैं; वैसे ही आत्मज्ञानी, मनीषी, महात्मा अपने नाम-रूप से परे होकर श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम दिव्य परम पुरुष साक्षात् परमेश्वर (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार श्रुति ने ब्रह्म को मुक्त (ज्ञानवान्) मनीषियों के लिए प्राप्तव्य कहा है। मुण्डक. २/२/५ में भी ऋषि कहते हैं कि- 'द्युलोक और 'पृथिवी' आदि के आश्रयरूप से जिस 'आत्मा' का उल्लेख मिलता है, वह 'जीवात्मा' नहीं; वरन् वह तो साक्षात् ब्रह्म ही है। इसी उपनिषद् के पूर्ववर्ती चतुर्थ मन्त्र में भी ब्रह्म को जीवात्मा का प्राप्य कहा है, यथा- प्रणव तो धनुष है और जीव बाण के सदृश है। ब्रह्म उसका लक्ष्य है। प्रमाद रहित मानव के द्वारा वह लक्ष्य बींधा जाने योग्य है, अतः उपासक को यही उचित है कि उस लक्ष्य का बेधन कर बाण के सदृश उसमें लीन हो जाये अर्थात् बन्धनों से मुक्त होकर सदैव परब्रह्म के चिन्तन में तत्पर रहता हुआ तदनुरूप हो जाना चाहिए। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में स्थान-स्थान पर ब्रह्म को जीव का प्राप्य कहे जाने के कारण उक्त श्रुतियों में वर्णित द्युलोक, पृथिवी आदि का आश्रयभूत वह (आत्मा) ब्रह्म ही हो सकता है, दूसरा अन्य नहीं। इस प्रकार उक्त आप्त वचनों से यह सिद्ध हुआ कि मुक्त पुरुषों के लिए ब्रह्म ही प्राप्तव्य है॥२॥

अब यहाँ आशङ्का यह उठती है कि पृथिवी आदि सम्पूर्ण भूत-प्रपञ्च, जड़-प्रकृति का कार्य है, कार्य का आयतन (आधार) कारण ही होता है; अतः जड़ प्रकृति को ही सभी का आश्रय माना जाये, तो क्या आपत्ति है ? इसी का समाधान आचार्य आगे के सूत्र में कर रहे हैं—

(६६) नानुमानमतच्छब्दात् ॥३ ॥

सूत्रार्थ- अनुमानम् = अनुमान-कल्पना से (जड़-प्रकृति प्रधान), न = पृथिवी और स्वर्ग आदि का आधार नहीं हो सकता, अतच्छब्दात् = क्योंकि उसका प्रतिपादन शब्द द्वारा (इस प्रकरण में) नहीं हुआ है।

व्याख्या- प्रधान अर्थात् जड़-प्रकृति को पृथिवी एवं स्वर्ग आदि का आधार-अवलम्बन बतलाने वाला ऐसा किसी भी तरह का कोई भी शब्द इस प्रकरण में प्रयोग में नहीं लाया गया। इस कारण से उसे (प्रकृति को) इन (पृथिवी-स्वर्गादि का) आधार नहीं मानना चाहिए। वह इस जगत् का मूल उपादान कारण नहीं है; यह बात तो पहले ही प्रतिपादित की जा चुकी है। इसलिए उसे कारण कहकर इनका अवलम्ब मानने की किसी भी तरह की आशा नहीं करनी चाहिए। अत: उक्त प्रकरण में पृथिवी एवं स्वर्ग (द्यु) आदि का आश्रय प्रकृति (प्रधान) को नहीं; वरन् 'ब्रह्म' को माना जाना चाहिए, यही उचित होगा॥३ ॥

प्रकृति-वाची शब्द उक्त प्रकरण में नहीं है, यह तो सही है; किन्तु जीवात्मा-वाची 'आत्मा' शब्द वहाँ तो है ही, इसलिए उसी को द्यु, पृथिवी आदि का यदि आश्रय मान लें, तो क्या आपत्ति है ? शिष्य की उक्त आशंका का समाधान आचार्य आगे के सूत्र में करते हैं—

(६७) प्राणभृच्च ॥४ ॥

सूत्रार्थ- प्राणभृत् = प्राण को धारण करने वाला अर्थात् जीवात्मा, च = भी, (न = द्युलोक आदि का अवलम्बन नहीं हो सकता।)

व्याख्या- जिस प्रकार प्रधान-(जड़-प्रकृति) को द्यु और पृथिवी आदि का अवलम्बन-आश्रय मानने के पक्ष में कोई शब्द नहीं प्राप्त होता, उसी प्रकार से प्राणधारी जीवात्मा को भी आश्रय मानने के लिए भी कोई शब्द उपलब्ध नहीं है। इसलिए द्यु, पृथिवी आदि का आयतन (आधार) एक मात्र 'ब्रह्म' ही है, दूसरा और कोई शब्द उपलब्ध नहीं है। 'आत्मा' शब्द अन्यत्र प्राणधारी (जीवात्मा) के अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी यही इस प्रकरण में वह प्राणधारी का वाचक नहीं है; क्योंकि मु०उ०(२/२/७) में इसके लिए 'आनन्दमय' और 'अमृत' विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, ये विशेषण मात्र परब्रह्म के ही अनुरूप हैं। अत: जीवात्मा को पृथिवी और स्वर्गादि का अवलम्ब नहीं मानना चाहिए॥४ ॥

जीवात्मा स्वर्गादि का आयतन (आधार) नहीं है, इस कारण अगले सूत्र में आचार्य उक्त तथ्य के प्रतिपादनार्थ एक अन्य कारण प्रस्तुत करते हैं—

(६८) भेदव्यपदेशात् ॥५ ॥

सूत्रार्थ- भेदव्यपदेशात् = (उक्त प्रकरण में) आत्मा और जीवात्मा में भेद कहे जाने के कारण (प्राणधारी-जीवात्मा सबका आश्रय नहीं है)।

व्याख्या- आत्मा और जीव में भिन्नता कहे जाने से भी जीवात्मा द्यु, पृथिवी आदि लोकों का आश्रय नहीं हो सकता। सांसारिक मोह-माया में आबद्ध हुआ जीव लोभ-मोह आदि के वश में होता है; किन्तु जब वह परब्रह्म का साक्षात् कर लेता है, तो उसके लोभ आदि विकार समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार से जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट हो जाता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि पृथिवी आदि का आश्रय जीव या प्रकृति नहीं; वरन् एकमात्र परब्रह्म ही संभव है। मुण्डकोपनिषद् २/२/५ में ऋषि ने कहा है- 'उस आत्मा को जानने का प्रयास करो।' इस प्रकार ज्ञातव्य आत्मा से उसकी जानकारी रखने वाला पृथक् ही होगा। ऐसे ही इसी उपनिषद् के ३/१/७ में उक्त आत्मा को द्रष्टा, जीवों की हृदय रूपी गुहा में स्थित कहा गया है।' इस कथन से भी ज्ञातव्य आत्मा की पृथक्ता पुष्ट होती है। अत: इस प्रकरण में वर्णित पृथिवी स्वर्गादि लोकों का आश्रयदाता परमात्मा-ब्रह्म ही है; जीवात्मा कदापि नहीं॥५ ॥

जीवात्मा और जड़ प्रकृति- ये दोनों ही स्वर्गादि के अवलम्ब नहीं हैं, अगले सूत्र में आचार्य पुनः एक अन्य कारण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(६९) प्रकरणात् ॥६ ॥

सूत्रार्थ— प्रकरणात् = प्रकरण से अर्थात् यहाँ ब्रह्म का प्रकरण है, (अत: यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा और जड़ प्रकृति द्यु और पृथिवी आदि के आश्रय नहीं हैं)।

व्याख्या— इस प्रकरण में पूर्वापर सभी मन्त्रों में उस परब्रह्म का ही विवेचन किया गया है। इस कारण यहाँ अन्य किसी के विवेचन का प्रश्न ही नहीं उठता। मु.उ. १/१/३ में वर्णन मिलता है कि महाशाल शौनक ने अंगिरस् से पूछा- 'भगवन्! किसके जान लेने से यह सब जाना हुआ हो जाता है? अंगिरस् जी ने- अपरा और परा विद्या का वर्णन कर **'यत्तदद्रेश्यं'** इत्यादि सन्दर्भ से उस तत्त्व का उपदेश किया। वह श्रेष्ठ तत्त्व नित्य, सर्वशक्तिमान्, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अपरिणामी, सम्पूर्ण विश्व का उद्‌भव कर्त्ता एकमात्र ब्रह्म ही है। उसी के जान लेने से अन्य के जानने की आवश्यकता नहीं रहती। आगे इसी में उस तत्त्व को स्वर्गादि का आश्रय बतलाया है, अत: जीव या जड़-प्रकृति को ऐसा आश्रय आयतन नहीं माना जा सकता। सबका एकमात्र आधार ब्रह्म ही है॥६॥

इसके अतिरिक्त अगले सूत्र में आचार्य और भी एक हेतु देकर समाधान करते हैं—

(७०) स्थित्यदनाभ्यां च ॥७॥

सूत्रार्थ— स्थित्यदनाभ्याम् = स्थिति और भोग द्वारा, च = भी (जीव) और ब्रह्म का भेद स्पष्ट होता है।

व्याख्या— एक ही देह में साक्षी रूप से स्थिति (विद्यमानता) और दूसरे के द्वारा सुख-दु:खमय अदन अर्थात् विषयों के भोग का उल्लेख किया गया है, उससे जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। मुण्डकोपनिषद् ३/१/१ में और श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/६ में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है-**'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥'** अर्थात्- 'एक साथ सखा भाव से परस्पर रहने वाले दो पक्षी मित्र (जीव और ब्रह्म) एक ही देह रूपी वृक्ष का आश्रय पाकर रहते हैं। उनमें से एक (जीव) तो उस वृक्ष के भोक्तव्य कर्मफल रूप सुख-दु:ख आदि को आसक्तिपूर्वक भोगता है और दूसरा (ब्रह्म) बिना भोगे ही केवल साक्षी रूप में अवस्थित होकर द्रष्टा बना रहता है।' सूत्रानुसार कर्म फलादि का भोक्ता जीव है और बिना भोगे ही स्थित रहने वाला ब्रह्म है। इससे दोनों का भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। अत: इस प्रकरण में द्यु आदि का जड़-प्रकृति आधार नहीं हो सकता॥७॥

अब आशंका यह होती है कि छा. उ. के ७ वें अध्याय में देवर्षि नारद के द्वारा आत्मा का स्वरूप पूछे जाने पर सनत्कुमार जी ने क्रमशः नाम, वाणी, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण एवं आशा को एक से बढ़कर एक कहा है। तदुपरान्त प्राण को इन सभी की अपेक्षा बड़ा कहकर उसी की उपासना करने को कहा है। यह सभी कुछ सुनने के पश्चात् नारद जी ने पुनः कोई प्रश्न नहीं किया है। उक्त वर्णन के अनुसार यदि इस प्रकरण का सर्वाधिक बड़ा प्राण है और उसे ही 'भूमा' और 'आत्मा' भी कहते हैं, तो फिर इससे पहले के प्रकरण में भी सभी का आश्रय प्राण शब्द वाची जीवात्मा को ही मानना चाहिए?

अगले सूत्र में आचार्य इसी के समाधान हेतु आगे का प्रकरण शुरू करते हैं—

(७१) भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥८ ॥

सूत्रार्थ— भूमा = (उक्त प्रकरण में प्रयुक्त हुआ) सर्वाधिक बड़ा 'भूमा' ब्रह्म ही है, सम्प्रसादात् = क्योंकि उसे (भूमा को) प्राण वाचक होने से जीवात्मा से भी, अधि = ऊपर (बड़ा), उपदेशात् = कहा गया है।

व्याख्या— जीवात्मा से सर्वाधिक बड़ा होने से 'भूमा' को परब्रह्म कहा गया है। बहु शब्द से 'भूमा' शब्द विनिर्मित हुआ। इसे बहुत्व या वैपुल्यार्थक मानना चाहिए। यद्यपि वैपुल्य शब्द से गुणों के उत्कर्ष मात्र का ग्रहण होता है; किन्तु अल्प शब्द के समक्ष इसका अर्थ विपुलता-अधिकता का महत्त्व प्रतिपादित करता है। छा.उ. ७/१५/१ में सनत्कुमार जी ने प्राण को सर्वाधिक बड़ा बतलाया है। इस प्रकरण में यह ज्ञात होता है कि यहाँ प्राण के नाम से जीवात्मा का वर्णन है; क्योंकि सूत्रकार ने यहाँ उस प्राण का दूसरा नाम 'सम्प्रसाद' रखा है तथा 'सम्प्रसाद' जीव का नाम है। यह तथ्य छा.उ. ८/३/४ में और भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। प्राण शब्द वाचक 'जीव' के सन्दर्भ में आगे यह भी कहा है कि 'यह सभी कुछ प्राण ही है। जो इस तरह का चिन्तन करने वाला, देखने वाला और जानने वाला है, वह अतिवादी होता है।' अतः यहाँ यह धारणा होनी सहज ही है कि इस प्रकरण में प्राण शब्द वाची जीव को ही सर्वाधिक बड़ा कहा गया है; क्योंकि इस कथन को सुनकर नारद जी ने फिर कोई प्रश्न नहीं पूछा। शायद उन्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया; किन्तु सनत्कुमार जी तो जानते थे कि इससे आगे की बात बतलाये बिना इसका ज्ञान अपूर्ण रह जाएगा। अतः उन्होंने नारद जी के बिना पूछे ही सत्य शब्द द्वारा ब्रह्म का प्रकरण उठाया अर्थात् 'तु' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट किया है कि 'वास्तविक अतिवादी तो वह है, जो सत्य को जानने के बाद उसके बल पर प्रतिवाद करता है।' ऋषि ने इस उपदेश से नारद जी के मन में सत्य तत्त्व की जिज्ञासा जाग्रत् करके उसे जानने के साधन रूप विज्ञान, मनन, श्रद्धा, निष्ठा और क्रिया को बतलाया। तदनन्तर सुख रूप 'भूमा' अर्थात् सर्वाधिक महान् ब्रह्म को समझाकर प्रकरण का समापन किया। इस प्रकार प्राण शब्द वाची जीव से बड़ा भूमा को बतलाने के कारण यहाँ इस प्रकरण में 'भूमा' शब्द ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यह ब्रह्म का वाचक है- प्राण, जीव या प्रकृति का वाचक नहीं है ॥८॥

उपर्युक्त कथन की सिद्धि के लिए आचार्य अगले सूत्र में एक अन्य हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं—

(७२) धर्मोपपत्तेश्च ॥९॥

सूत्रार्थ— धर्मोपपत्तेः = उक्त प्रकरण में प्रयुक्त भूमा के जो धर्म (लक्षण हैं), वे भी ब्रह्म में ही सुसंगत हो सकते हैं, इसलिए; च = भी (यहाँ 'भूमा' ब्रह्म ही है)।

व्याख्या— उक्त प्रकरण में भूमा के अन्तर्गत जिन धर्मों (लक्षणों) का होना बतलाया गया है, उनकी संगति ब्रह्म से ही मिलती है। अतः 'भूमा' शब्द को ब्रह्म वाच्य ही मानना चाहिए। छा.उ. ७/२३,२४.१-१ के अनुसार जिसके देख लेने पर 'जो अन्य किसी को न देखता है, न श्रवण करता है और न ही जानता है, वही 'भूमा' कहलाता है। अन्य को देखने, श्रवण करने व जानने वाला अल्पज्ञ है। भूमा अमृत है और अल्पज्ञ (अल्प) नश्वर है। नारद जी ने पूछा कि 'भूमा कहाँ अवस्थित रहता है? इसके उत्तर में सनत्कुमार जी कहते हैं कि वह अपनी ही महिमा में अवस्थित रहता है।' इस प्रकार से भूमा का स्वाश्रयत्व प्रतिपादित होता है, जो कि एकमात्र ब्रह्म में संभव है, जीवात्मा या प्रकृति में संभव नहीं है। इसलिए भूमा को ब्रह्म वाच्य ही मानना चाहिए, उक्त प्रकरण में वर्णित समस्त धर्मों (लक्षणों) की संगति उसी में लग सकती है, अतः वही यहाँ इस प्रकरण में 'भूमा' के नाम से संबोधित किया गया है ॥९॥

उपर्युक्त प्रकरण में 'भूमा' के जो धर्म कहे गये हैं, वे ही बृ.उ. ३/८/७ में भी 'अक्षर' के धर्म कहे गये हैं। अक्षर शब्द प्रणवरूपी वर्ण का भी वाचक है। अतः यहाँ पर 'अक्षर' शब्द किसका वाचक है?

अब अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान करते हुए अगला प्रकरण शुरू करते हैं—

(७३) अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥

सूत्रार्थ— अक्षरम् = (उक्त प्रकरण में) अक्षर- (क्षरित न होने वाला) शब्द अविनाशी ब्रह्म का ही वाचक

है, अम्बरान्तधृते: = क्योंकि उसे आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाला कहा गया है।

व्याख्या— वह अक्षर स्वरूप ब्रह्म आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाला है। अक्षर शब्द यहाँ ब्रह्म का ही वाचक है। बृहदारण्यकोपनिषद् के ३/८/६,७ व ८ में इस प्रकरण का उल्लेख इस प्रकार मिलता है- गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा- जो द्युलोक से भी ऊपर है, पृथिवी से भी नीचे तथा इन दोनों के मध्य में भी है और जो यह पृथिवी लोक एवं द्युलोक है, ये सब एवं जिसको भूत, वर्तमान और भविष्यत् कहते हैं, वे समस्त काल किसमें ओत-प्रोत हैं? याज्ञवल्क्य जी ने कहा- 'हे गार्गि! ये सभी कुछ आकाश में ओत-प्रोत हैं। इस पर गार्गी ने पूछा-वह आकाश किसमें ओत-प्रोत है? तब याज्ञवल्क्य जी ने कहा- हे गार्गि! उस श्रेष्ठ तत्त्व को तो ब्रह्मज्ञ लोग 'अक्षर' कहते हैं। वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न बड़ा, न लाल है और न ही पीला। इस प्रकार के रूप की विशेषता ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी में नहीं हो सकती। अत: यहाँ पर 'अक्षर' नाम से एकमात्र उसी ब्रह्म का ही वर्णन हुआ है ॥१०॥

कारण अपने कार्य का वरण करता है, यह सभी को ज्ञात है। जिनके मतानुसार प्रकृति ही जगत् का कारण है, वे उसे ही आकाशपर्यन्त सभी भूतों को ग्रहण करने वाली स्वीकार कर सकते हैं। अत: उनके मत के अनुसार यहाँ 'अक्षर' शब्द प्रकृतिवाच्य ही हो सकता है। इस आशंका का समाधान आचार्य इस सूत्र में कर रहे हैं—

(७४) सा च प्रशासनात् ॥११॥

सूत्रार्थ— च = और, सा = वह अर्थात् आकाशपर्यन्त समस्त भूतों को धारण करने वाला परमात्मा ही है, प्रशासनात् = क्योंकि उस अक्षर रूप ब्रह्म को सभी पर सम्यक् रूप से शासन करने वाला कहा गया है।

व्याख्या— अक्षर रूप ब्रह्म का प्रशासन सम्पूर्ण चराचर जगत् पर रहता है। सभी चर-अचर भूत-प्राणी उसकी इच्छामात्र से स्व-स्व कर्त्तव्य-धर्मों का पालन करते हैं। इस प्रकरण के अन्तर्गत आगे चलकर बृ.उ. ३/८/९ में याज्ञवल्क्य जी कहते हैं- **'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत'.....** अर्थात् हे गार्गि! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुए स्थित रहते हैं। द्यु, पृथिवी, निमेष, मुहूर्त्त, दिन-रात आदि नामों से इंगित होने वाला काल आदि सभी विशेष रूप से धारण किये हुए स्थित रहते हैं। सूर्य-चन्द्रमा यहाँ समस्त जगत् का उपलक्षण है। जो स्थिति यहाँ पर सूर्य-चन्द्र नाम लेकर व्यक्त की गई है, वह समस्त जगत् की है। 'प्रशासन' का अर्थ नियन्त्रण व व्यवस्था में चलाना है। यह चैतन्य तत्त्व का धर्म है। प्रशासन का कार्य जड़ तत्त्व के द्वारा करना संभव नहीं है। अत: उक्त प्रसंग में पृथिवी आदि आकाशपर्यन्त लोकों का धारण करना उसके प्रशासक व संचालक का बोधक है। यह जगत् के उपादानकारण जड़ प्रकृति में असंभव है। इससे ज्ञात होता है कि बृहदारण्यक के इस प्रसंग में विश्व को धारण करना उपादानकारण की भावना से नहीं, वरन् प्रशासन की भावना को व्यक्त किया गया है। यह स्थिति एकमात्र ब्रह्म में ही संभव है, अन्य किसी में नहीं। अत: इस प्रसंग में 'अक्षर' के लिए 'प्रशासन' का स्पष्ट वर्णन होने से 'अक्षर' पद एकमात्र ब्रह्म का ही वाचक है। यह कार्य जड़ प्रकृति का कदापि नहीं हो सकता ॥११॥

इसके अतिरिक्त अगले सूत्र में आचार्य उक्त अर्थ की पुष्टि के लिए और भी स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं—

(७५) अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

सूत्रार्थ— अन्यभावव्यावृत्त: = यहाँ अक्षर में अन्य (प्रकृति आदि) के धर्मों का निषेध कर देने से, च = भी (अक्षर) शब्द ब्रह्म का ही वाचक है।

व्याख्या— यहाँ अन्य-दूसरे पदार्थ, प्रकृति-जीव आदि भाव का निषेध कर देने के कारण भी 'अक्षर' रूप में ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है। उक्त प्रसंग के अन्तर्गत बृ.उ. के ३/८/११ में अक्षर रूप में ब्रह्म के सन्दर्भ

का ही इस प्रकार वर्णन मिलता है- 'वह 'अक्षर' अदृश्य रहकर सभी को देखता है, अश्रुत होकर भी स्वयं सभी को सुनने वाला है, मनन करने में न आने वाला होकर भी स्वयं सभी का मनन करने वाला है, जानने में न आने वाला होकर भी स्वयं सभी को अच्छी तरह से जानने वाला है आदि।' इस श्रुति के वाक्यानुसार यह सामर्थ्य एकमात्र ब्रह्म में ही हो सकती है। यहाँ उस 'अक्षर' में दृश्य, श्रवण, मनन और जानने में आने वाले जड़ प्रकृति आदि के धर्मों का निषेध किया गया है। इस कारण भी 'अक्षर' शब्द विनाशशील जीव, जड़प्रकृति का वाची नहीं हो सकता। जीव या प्रकृति की यह सामर्थ्य नहीं कि वह स्वयं अप्रकट रहकर सबको देख, सुन व मनन कर सके। अत: यही सिद्ध होता है कि यहाँ 'अक्षर' नाम से ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है ॥१२॥

उक्त प्रकरण में 'अक्षर' शब्द को ब्रह्म का वाचक बतलाया गया है; परन्तु प्रश्नोपनिषद् ५/२-७ में ॐ अक्षर को परब्रह्म एवं अपरब्रह्म दोनों का प्रतीक कहा गया है। इस कारण वहाँ पर अक्षर को अपरब्रह्म भी स्वीकारा जा सकता है। अब अगले सूत्र में आचार्य इसी आशंका के निवारणार्थ अपना मत प्रस्तुत कर रहे हैं—

(७६) ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥१३॥

सूत्रार्थ— ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् = यहाँ परम पुरुष को 'ईक्षते' क्रिया का कर्म-उपदेश द्वारा व्यक्त किये जाने से भी, सः = वह परब्रह्म ही है। (उसे त्रिमात्रासम्पन्न 'ओ३म्' इस अक्षर से चिन्तन-मनन के योग्य कहा है।)

व्याख्या— यहाँ इस सूत्र में जिस मंत्र पर चिन्तन (विचार) शुरू है, वह प्रश्नोपनिषद् ५/५ में इस प्रकार वर्णित है- '**यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण .... स एतस्माज्जीवधनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते**' अर्थात् 'जो तीन मात्राओं से सम्पन्न 'ओ३म' रूपी इस अक्षर से ही परम पुरुष का सतत चिन्तन-मनन करता है, वह प्रकाश स्वरूप सूर्य लोक में गमन करता है। जिस प्रकार सर्प केचुली को त्याग देता है, वैसे ही वह सर्वथा पापों को त्यागकर मुक्त हो जाता है। तदनन्तर वह सामवेद की श्रुतियों के द्वारा गायन करते हुए ऊर्ध्व-ब्रह्मलोक में ले जाया जाता है। वह इन उपासना करने वाले जीव-समुदाय रूप परतत्त्व से श्रेष्ठ अन्तर्यामी परम पुरुष का साक्षात्कार (दर्शन) कर लेता है।' प्रश्नोपनिषद् के मंत्र में जिसे त्रिमात्रा से युक्त ॐ कार के द्वारा ध्येय कहा गया है, वह पूर्ण पुरुष परब्रह्म ही है, अपरब्रह्म नहीं; क्योंकि उस ध्येय को जीव-समुदाय के नाम से वर्णित हिरण्यगर्भमय अपरब्रह्म से भी अधिक उत्तम कहकर 'ईक्षते' क्रिया का कर्म कहा है अर्थात् जिसके दर्शन किये जाते हैं, वह ब्रह्म ही है। जीव परमधाम में गमन करके उस ब्रह्म का साक्षात् (दर्शन) करता है ॥१३॥

उक्त प्रकरण में मानव देह रूप पुर में शयन करने वाले पुरुष को परब्रह्म कहकर पुष्टि प्रदान की गई है; लेकिन छा. उ. ८/१/१ में ब्रह्मपुर अन्तर्गत 'दहर' (सूक्ष्म) आकाश को उल्लेखित कर उसमें अवस्थित वस्तु को ज्ञात करने के लिए बतलाया गया है, वह एकदेशीय (क्षेत्रीय) वर्णन होने से जीवपरक संभव है, अतः यहाँ पर आशंका होती है कि उपर्युक्त प्रकरण में 'दहर' नाम से व्यक्त किया गया तत्त्व क्या है ?

आचार्य अगले सूत्र में इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(७७) दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

सूत्रार्थ— दहर: = उक्त प्रकरण में 'दहर' अर्थात् अल्प-स्थान में वर्णित जिस ज्ञेय तत्त्व का उल्लेख किया गया है, वह तत्त्व ब्रह्म ही है; उत्तरेभ्यः = क्योंकि उसके बाद आये वचनों-हेतुओं से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या— 'दहर' के सन्दर्भ में छा.उ. ८/१/१ में इस प्रकार वर्णन मिलता है- '**अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म**' ....अर्थात् 'इस ब्रह्मपुर रूप मानव देह में कमल के सदृश आकार वाला एक गृह (हृदय) है, उसके भीतर जो चैतन्य तत्त्व है, उसे जानने की अभिलाषा रखनी चाहिए।' यहाँ पर जिसे

जानने की अभिलाषा की गई है, वह 'दहर' शब्द का लक्ष्य परब्रह्म ही है; क्योंकि इसी के आगे (छा० ८/१/५) के वर्णन-विवेचन में इसी के अन्दर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को स्थित कहा गया है और उसके सन्दर्भ में यह भी बताया गया है कि 'यह आत्मा, सम्पूर्ण पापों से रहित, जन्म-मृत्यु से परे, क्षुधा-पिपासा से रहित, सत्यकाम एवं सत्यसंकल्प युक्त है। इसके अनन्तर आगे (छा.उ. ८/३/४ में) वर्णन मिलता है कि यही आत्मा अमृत अभय एवं ब्रह्म है। इसे ही सत्य नाम से जाना जाता है। इस प्रकार से यहाँ 'दहर' शब्द ब्रह्म के अर्थ में ही प्रयुक्त मानना उचित है। उक्त प्रकरण के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ प्रयुक्त 'दहर' शब्द ब्रह्म का ही बोध कराने वाला है॥१४॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से उपर्युक्त तथ्य को सिद्ध कर रहे हैं—

(७८) गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च॥१५॥

सूत्रार्थ— गतिशब्दाभ्याम् = गति वाचक शब्द में ब्रह्म का निर्देश होने से, लिंगम् = इस प्रसङ्ग में ब्रह्म के लक्षण हैं, च = और, तथा = ऐसा वर्णन, हि = ही, दृष्टम् = श्रुतियों में भी प्राय: देखा जाता है। अत: यहाँ 'दहर' नाम से ब्रह्म का ही वर्णन हुआ है।

व्याख्या— दहर की सुषुप्ति का स्थान एवं ब्रह्मलोक का होना श्रुतियों ने भी व्यक्त किया है। सुषुप्ति के समय 'दहर' में जाने की बात कहने के कारण उसे ब्रह्मलोक बताया गया है। छा.उ. ८/३/२ के अनुसार 'जो भूत-प्राणिसमुदाय प्रत्येक दिन सुषुप्ति काल के अन्तर्गत इस ब्रह्मलोक को पाते हैं अर्थात् गमन करते हैं; किन्तु असत्य से आवृत होने से उसे नहीं जानते हैं। यहाँ मंत्र में प्रत्येक दिन ब्रह्मलोक में गमन हेतु कहना तो गति का ही उल्लेख है और उस 'दहर' को ब्रह्मलोक कहना उसका वाचक शब्द है। उक्त दोनों तथ्यों से सिद्ध होता है कि यहाँ 'दहर' शब्द ब्रह्म का बोध कराने वाला है।

इसके अतिरिक्त अन्यत्र इसी उपनिषद् (६/८/१) में भी ऐसा उल्लेख प्राप्त है, यथा-'**सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति**' अर्थात्- हे सोम्य! उस सुषुप्ति काल में जीव 'सत्' नाम से संबोधित किये जाने वाले परब्रह्म से संयुक्त होता है।' इसके पश्चात् आगे कहे गये अमृत, अभय आदि विशेषण (लक्षण) भी ब्रह्म में ही प्रयुक्त होते हैं। इन दोनों कारणों से भी पुष्ट होता है कि यहाँ 'दहर' नाम से ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार से 'दहर' ब्रह्म का वाचक होने से भी ब्रह्म का ही द्योतक है॥१५॥

अब अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त तथ्यों-कथनों की सिद्धि हेतु एक अन्य कारण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(७९) धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः॥१६॥

सूत्रार्थ— धृते: = इस 'दहर' में सभी लोकों के धारण करने की सामर्थ्य होने से, च = भी (यह ब्रह्म का ही वाचक है; क्योंकि), अस्य = इस (ब्रह्म) की, महिम्न: = (सभी लोकों को धारण करने की सामर्थ्य रूप) महिमा का, अस्मिन् = इस ब्रह्म में होना, उपलब्धे: = अन्य श्रुतियों में भी प्राप्त होता है, अत: यहाँ पर 'दहर' नाम से ब्रह्म का वर्णन मानना उचित ही है।

व्याख्या— छा.उ. ८/४/१ में वर्णन मिलता है कि - '**अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानाम्**' अर्थात् यह आत्मा सभी लोकों को धारण करने वाला सेतु है। इस प्रकार यहाँ 'दहर' शब्द वाच्य आत्मा में सभी लोकों को धारण करने की सामर्थ्य का उल्लेख होने से 'दहर' ब्रह्म का ही वाची है; क्योंकि अन्य श्रुतियों में भी ब्रह्म में ऐसी महिमा होने का उल्लेख प्राप्त होता है। बृह. उ. ३/८/९ में ऋषि गार्गी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं- 'हे गार्गि! इस अक्षर रूप ब्रह्म के ही शासन में रहकर सूर्य एवं चन्द्रमा अच्छी तरह से धारण किये हुए स्थित हैं। इसके अतिरिक्त बृह.उ. ४/४/२२ में यह भी कहा है-'यह सभी ईश्वर का है, यह समस्त भूतों

का स्वामी है। सभी प्राणियों का पालन-पोषण करने वाला है और यह इन सभी लोकों को विनष्ट होने से बचाने हेतु उनको ग्रहण करने वाला सेतु है।' ब्रह्म के अलावा अन्य कोई भी इन सभी लोकों को धारण करने में सक्षम नहीं हो सकता। अतः यहाँ 'दहर' नाम से ब्रह्म को ही प्रयोजनीय मानना उचित होगा। जीव या प्रकृति में ऐसी सामर्थ्य कदापि संभव नहीं हो सकती॥१६॥

अगले सूत्र में आचार्य दूसरा हेतु प्रस्तुत कर उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं—

(८०) प्रसिद्धेश्च॥१७॥

सूत्रार्थ— प्रसिद्धेः = यह प्रसिद्ध है कि आकाश शब्द ब्रह्म का वाचक है, इसलिए; च = भी 'दहर' नाम ब्रह्म का ही है।

व्याख्या— 'आकाश' शब्द ब्रह्मार्थ है। श्रुति में 'दहराकाश' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस सन्दर्भ में तैत्तिरीयोपनिषद् २/७/१ में ऋषि कहते हैं- **'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'** अर्थात् 'यदि यह आनन्दमय आकाश (सभी को आकाश प्रदान करने वाला ब्रह्म) न होता, तो फिर कौन जीवित रह सकता है? कौन प्राणों की क्रिया सम्पन्न कर सकता है? ऐसा ही उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् १/९/१ में भी मिलता है। यथा-**'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते'** अर्थात् 'निश्चय ही ये समस्त भूत-प्राणी आकाश से ही उद्भूत होते हैं।' आगे इसी उपनिषद् छा.उ. ८/४/१ में भी ऋषि कहते हैं कि — **'आकाशो वै नाम रूपयोनिर्वहिता .....'** अर्थात् आकाश ही नाम रूपों का निर्वाहक है और श्रुति में 'दहराकाश' नाम का वर्णन होने के कारण 'दहर' शब्द की प्रसिद्धि 'परब्रह्म' वाच्य होने के कारण है। अतः इस कारण भी 'दहर' शब्द यहाँ पर परब्रह्म का ही वाचक है॥१७॥

'दहर' शब्द से जीवात्मा का ही ग्रहण क्यों न किया जाये? अगले सूत्र में आचार्य यही आशंका उपस्थित कर समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(८१) इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात्॥१८॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो कि, इतरपरामर्शात् = अन्य अर्थात् जीवात्मा का संकेत (अर्थग्रहण) होने से, सः = वह जीवात्मा 'दहर' नाम से कहा गया है, इति न = तो यह कहना ठीक नहीं है, असम्भवात् = क्योंकि वहाँ कहे गये लक्षणों का जीवात्मा में होना असम्भव है।

व्याख्या— छान्दोग्योपनिषद् (८/१/५) में आचार्य कहते हैं कि 'इस (देह) की जरावस्था से यह जर्जर नहीं होता। वध होने से मरता नहीं। यह ब्रह्मपुर पूर्ण सत्य है। कामादि समस्त विषय इसमें अच्छी तरह से अवस्थित रहते हैं। यह आत्मा पाप-पुण्य से परे, जरा-मरण से रहित, शोक से परे, क्षुधा-पिपासा से दूर सत्य काम और सत्य सङ्कल्पमय है। जिस प्रकार इस संसार में प्रजा यदि राजा की आज्ञा मानती है, तो वह जिस-जिस पदार्थ (वस्तु) की कामना एवं क्षेत्र के भोग की इच्छा करती है, उसी प्रकार वह इच्छित वस्तु को प्राप्त कर सुखपूर्वक जीवन धारण करती है।' यहाँ श्रुति में 'देह की जरावस्था से यह जीर्ण-शीर्ण नहीं होता तथा इसके वध से इसका नाश नहीं होता।' इस वाक्यांश से जीव को लक्ष्य कराने वाला संकेत प्राप्त होता है; क्योंकि इसके आगे वाले मंत्र में कर्मफल की अनित्यता कही गई है और कर्मफल-भोग का सम्बन्ध जीव से ही है। इस प्रकार जीवात्मा को लक्ष्य कराने वाला संकेत होने से यहाँ 'दहर' नाम से 'जीवात्मा' का ही उल्लेख मिलता है, ऐसा कहें तो यह उचित नहीं; क्योंकि उपर्युक्त मंत्र में ही जो सत्य संकल्प आदि लक्षण कहे गये हैं, उनका जीवात्मा में होना कदापि सम्भव नहीं है। अतः यहाँ 'दहर' शब्द से एकमात्र परब्रह्म का ही वर्णन किया गया है, यही मानना ठीक होगा॥१८॥

अगले सूत्र में उक्त उपदेश की सिद्धि के लिए पुनः शङ्का व्यक्त कर उसका समाधान प्रस्तुत है—

(८२) उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१९ ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो कि, उत्तरात् = उसके बाद अगले विवरण से भी 'दहर' शब्द से जीवात्मा का ग्रहण होना सिद्ध होता है, तु = तो, यह कथन उचित नहीं है, (क्योंकि), आविर्भूतस्वरूप = ब्रह्म को प्राप्त हुआ आत्मा है।

व्याख्या— यहाँ यह आशंका उठ सकती है कि ब्रह्म को प्राप्त कर लेने के बाद जीवात्मा भी सत्यकाम और सत्यसंकल्पमय हो सकता है। आचार्य छा.उ. ८/३/४ का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि यह जो सम्प्रसाद रूप जीवात्मा है, वह इस देह को त्यागकर परम ज्योति को प्राप्त हो अपने शुद्ध स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है। यह आत्मा, अमृत और अभय है तथा यही ब्रह्म भी है। उस ब्रह्म का नाम ही सत्य है। यहाँ मंत्र में 'सम्प्रसाद' नाम से जीवात्मा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है तथा उसके लिए वे ही अमृत, अभय आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं; जो अन्य स्थलों में ब्रह्म के लिए प्रयुक्त होते हैं। अत: इन लक्षणों का जीवात्मा में होना संभव है। इसलिए 'दहर' शब्द को 'जीवात्मा' का वाच्य मानने में कोई समस्या नहीं होनी चाहिए, यहाँ यदि ऐसी आशंका व्यक्त की जाये, तो उचित नहीं है; क्योंकि उपर्युक्त मंत्र में अपने शुद्ध स्वरूप को पाये हुए जीव के लिए वैसे ही विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। अत: उसके आधार पर 'दहर' शब्द को जीव का वाची न मानकर ब्रह्मवाची ही मानना उचित होगा। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि 'दहर' शब्द ब्रह्मवाची ही है ॥१९ ॥

अब जिज्ञासा होती है कि यहाँ जीवात्मा को लक्ष्य कराने वाले शब्दों का प्रयोग क्यों किया गया है—

(८३) अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२० ॥

सूत्रार्थ— च = और, अन्यार्थ: = दूसरे अर्थात् जीवात्मा के निमित्त, परामर्श: = (उक्त प्रकरण में) परामर्श किया है।

व्याख्या— यहाँ उक्त प्रकरण में जीव-परामर्श ब्रह्मज्ञान के अर्थ में किया गया है। इस ब्रह्म को पाने वाला जीव अष्टगुण सम्पन्न स्वरूप में अवस्थित होता है। ब्रह्मज्ञान पाने के बाद जीवात्मा भी स्वयं अपने में ब्रह्म के विभिन्न गुणों को प्राप्त कर लेता है और तभी उसे ब्रह्म के सन्निकट सर्वाधिक गुण सम्पन्न स्वरूप का बोध होता है। अपने स्वयं के रूप का ज्ञान भी ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति में सहयोगी होता है; किन्तु उस (ब्रह्म ज्ञान) की प्राप्ति से भी जीवात्मा ब्रह्म नहीं हो जाता। उस ब्रह्म का ज्ञान (साक्षात्कार) हो जाने से अत्यधिक श्रेष्ठ व दिव्य गुण जीवात्मा में आ जाते हैं; लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं, कि वह स्वयं ब्रह्ममय हो गया है। यही कथन गीता के अ०१४ के द्वितीय श्लोक में भी है। अत: उक्त प्रकरण में जीवात्मा का वर्णन आ जाने मात्र से यह नहीं प्रमाणित हो जाता कि वह 'दहर' शब्द जीवात्मा वाची है अर्थात् 'दहर' शब्द ब्रह्मवाची ही है जीवात्मा वाची नहीं ॥२० ॥

(८४) अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥२१ ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि, इति = यह कहो कि, अल्पश्रुते: = 'दहर' शब्द को बहुत छोटा सुनो गया है (इसलिए 'दहर' को जीववाची माना गया है), तदुक्तम् = तो इसके सम्बन्ध में पूर्व में ही उत्तर दिया जा चुका है।

व्याख्या— 'दहरोऽस्मिन्नतराकाशः' (छा. उ. ८/१/१) में दहराकाश को अत्यन्त अल्प (लघु) बतलाया है। अत्यल्प सुनने के कारण भी उसके जीव वाची होने की आशंका होती है; किन्तु ऐसी आशंका करना उचित नहीं है; क्योंकि इसका (समाधान) उत्तर पूर्व (सूत्र १/२/७) में ही कहा जा चुका है। यह सत्य है कि जीव का निवास मस्तिष्कगत हृदय नामक अति लघु क्षेत्र में है। जीव निरन्तर ब्रह्म को जानने का प्रयास करता

है। वह जहाँ रहता है, वहीं पर उसकी प्राप्ति व जानने के लिए प्रयास सम्भव है। अत: ब्रह्म की जिज्ञासा वाले जीव के लिए जिज्ञास्य बह्म का निर्देश उसी अति लघु क्षेत्र में किया जा सकता है। उपासना ध्यान आदि के सन्दर्भ में सूत्रकार ने स्वयं (सूत्र १/२/७ में) पहले ही बतला दिया है। यहाँ पर सूत्र में उसी का 'तदुक्तम्' पद से निर्देश किया गया है॥२१॥

उपर्युक्त सूत्र में व्यक्त की गई आशंका का समाधान आचार्य अगले सूत्र में प्रकारान्तर से दे रहे हैं—

(८५) अनुकृतेस्तस्य च॥२२॥

सूत्रार्थ— तस्य = उस जीवात्मा का, अनुकृते: = अनुकरण करने के कारण, च = भी (परब्रह्म को अल्प परिमाण वाला कहना ही ठीक है)।

व्याख्या— मानव के मस्तिष्कगत हृदय क्षेत्र का परिमाप अङ्गुष्ठ के बराबर कहा गया है। उसी में जीवात्मा के साथ ही परमात्मा के प्रवेश की बात उपनिषदों में कही गयी है। तै०उ० २/६ में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है- 'परमात्मा उस जड़ चैतन्यमय समस्त विश्व की संरचना करके स्वयं भी जीवात्मा के साथ उसमें प्रवेश कर स्थित हो गया।' छा.उ. ३/३ में भी ऐसा ही वर्णन किया गया है, देखें- 'उस परमात्मा ने त्रिविध तत्त्वरूप देवता अर्थात् उनके कार्यरूप में मानव देह में जीवात्मा के सहित प्रवेश करके अपने नाम व रूप का प्रसार किया।' कठोपनिषद् १/३/१ में भी ऋषि कहते हैं कि 'शुभ कर्मों के फलस्वरूप मानव-देह में ब्रह्म के निवास स्थल रूप हृदयाकाश के अन्तर्गत बुद्धिरूप गुफा में छिपे हुए सत्य का साक्षात् करने वाले एक मात्र दोनों जीवात्मा और परमात्मा ही हैं।' इस तरह से उस परमात्मा को जीवात्मा का अनुकरण करने वाला कहा जाने से भी उसे अल्प परिमाण वाला बतलाना सर्वथा ठीक ही है। इसी भाव से वेद-शास्त्रों में अनेकों जगह उस परमात्मा के स्वरूप को **अणोरणीयान्-महतो महीयान्** अर्थात् लघु से लघु और महान् से भी महान् कहा गया है॥२२॥

आचार्य अगले सूत्र में उक्त विषय के सन्दर्भ में स्मृति का भी प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(८६) अपि च स्मर्यते॥२३॥

सूत्रार्थ— च = और, इसके अतिरिक्त, अपि = यही बात (तथ्य), स्मर्यते = स्मृतियों में भी कही गई है।

व्याख्या— परब्रह्म परमात्मा समस्त भूत-प्राणियों के हृदय में स्थित रहते हैं। वे अल्प से अल्पतम और महान् से महानतम है। मस्तिष्कगत हृदय प्रदेश में स्थित होने की बात समस्त स्मृतियाँ एक स्वर में स्वीकारती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अ. १४/२ में इसका उल्लेख इस प्रकार से मिलता है- **'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता:। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।'** अर्थात्- 'इस ज्ञान को आश्रय प्राप्त कर अर्थात् धारण करके जो मेरे स्वरूप को प्राप्त हो गये हैं, वे सभी सृष्टि के आदि में पुन: उत्पन्न न होने और प्रलयकाल में भी परेशान नहीं होते।' इससे मुक्त हुए जीवात्मा का ब्रह्मसाधर्म्य तो लक्षित होता है। इससे जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्पष्ट हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि 'दहर' शब्द ब्रह्म का ही कथन है, जीव का नहीं। ऐसा ही वर्णन मनुस्मृति ८/९१ में मिलता है- **एकोऽहमस्मीत्यात्मानं .... मुनि:।** अर्थात् - 'हे भद्र! जो तू यह जानता है कि इस देश में जीव रूप मैं एकाकी ही स्थित हूँ, ऐसा कदापि मत जान; क्योंकि सबके पुण्य और पापों का द्रष्टा यह सर्वज्ञ ब्रह्म सदा तेरे हृदय में स्थित रहता है।' ब्रह्म को अन्यत्र अणु से भी अणु कहा गया है। जो कि उसके हृदय देश की स्थिति को प्रकट करता है, यथा-मनु० १२/१२२ में इसी कारण **'अणीयांसमणोरपि'** कहा है। कठ. १/२/२० और श्वे. ६/१२ में उस ब्रह्म को **अणोरणीयान् महतो महीयान्** एवं 'आत्मस्थं' बतलाया है। उक्त समस्त उदाहरणों से सर्वव्यापक ब्रह्म के हृदय में स्थित होने का

स्पष्टीकरण हो जाता है। अत: दहर का हृदय प्रदेश में ब्रह्म का कथन सर्वथा उचित ही है॥२३॥

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह आशङ्का होती है कि कठ.उ. (२/१/१२,१३ एवं २/३/१७) में जिसे अंगुष्ठ के परिमाण वाला कहा गया है, वह जीवात्मा है या परमात्मा? इसी के निस्तारण हेतु अगले सूत्र से आचार्य नया प्रकरण शुरू करते हैं—

(८७) शब्दादेव प्रमितः ॥२४॥

सूत्रार्थ— शब्दात् = (उपर्युक्त प्रकरण में आये हुए) शब्द से (यह सिद्ध होता है कि), प्रमितः = अंगुष्ठ मात्र परिमाप वाला पुरुष, एव = (ब्रह्म) ही है।

व्याख्या— कठोपनिषद् (२/१/१२,१३) में ऋषि कहते हैं कि **'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।'** तथा **'अंगुष्ठमात्रः ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः'** अर्थात् अंगुष्ठ के बराबर परिमाप वाला परम पुरुष शरीर के मध्य भाग (हृदय) में अवस्थित है।' तथा 'अंगुष्ठ के बराबर परिमाप वाला पुरुष धुएँ से रहित ज्योति के सदृश एक रस है। वह भूत, भविष्य एवं वर्तमान पर राज्य करने वाला है। वह आज भी है और कल भी रहेगा अर्थात् वह नित्य-शाश्वत है।' इस प्रकरण में जिसे अंगुष्ठ के बराबर परिमाप वाला पुरुष-ईश्वर कहा गया है। वह एकमात्र ब्रह्म ही है। यह तथ्य उन्हीं मन्त्रों में कहे हुए शब्दों से प्रमाणित होता है; क्योंकि कठ. २/३/१७ में उस पुरुष को भूत, भविष्य और वर्तमान में होने वाली सम्पूर्ण प्रजा पर राज्य करने वाला, धुएँ से रहित अग्नि की भाँति एक रस और सदा रहने वाला कहा गया है और आगे चलकर उसी को विशुद्ध अमृत स्वरूप बतलाया गया है॥२४॥

यहाँ आशंका होती है उस परमात्मा को अंगुष्ठ के बराबर परिमाप वाला क्यों कहा गया है? अगले सूत्र में इसी का समाधान किया जा रहा है—

(८८) हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥२५॥

सूत्रार्थ— तु = उस ब्रह्म को अँगूठे के परिमाप वाला कहना तो, हृदि = हृदय में अवस्थित कहे जाने की, अपेक्षया = अपेक्षा से है, मनुष्याधिकारत्वात् = क्योंकि इस (ब्रह्मविद्या) का अधिकार एकमात्र मनुष्य को ही प्राप्त है।

व्याख्या— उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मविद्या के द्वारा ब्रह्म को जानने व प्राप्त करने का अधिकार एकमात्र मानव को ही मिला हुआ है। इतर प्राणी पशु-पक्षी आदि अन्य योनियों में उद्भूत जीव आत्माएँ उस परब्रह्म परमेश्वर को नहीं जान सकतीं; क्योंकि मनुष्य के हृदय का परिमाण अँगूठे के बराबर परिमाण वाला बतलाया गया है। इस कारण से यहाँ मानव- हृदय के परिमाप की अपेक्षा से उस अविनाशी ब्रह्म को 'अंगुष्ठमात्र पुरुष' ही कहा गया है। यहाँ सूत्र में वर्णित 'तु' पद इस अर्थ का बोध कराने वाला है कि सर्वव्यापक ब्रह्म का ऐसा विवेचन स्वतंत्र रूप से नहीं किया जा सकता। शास्त्र में एकमात्र मानव का अधिकार होने से मानव-हृदय की अपेक्षा से ही वैसा वर्णन किया गया है; यहाँ पर यही प्रमाणित होता है॥२५॥

अब जिज्ञासा यह होती है कि ब्रह्मविद्या का अधिकार मनुष्य को छोड़कर क्या अन्य किसी को भी नहीं है? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान देते हुए कहते हैं—

(८९) तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥२६॥

सूत्रार्थ— बादरायणः = बादरायण आचार्य का मत है कि, तदुपरि = इन मनुष्यों से ऊपर जो देव-समाज है; अपि = उसको भी, सम्भवात् = जान लेना सम्भव है।

व्याख्या— मानव योनि से नीचे की योनियों में तो ब्रह्मविद्या को पढ़ने और उसके द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य ही नहीं है। इस कारण से उनका अधिकार बताना तो उचित ही नहीं है; किन्तु देव आदि योनियाँ

तो मानवयोनि से ऊपर हैं; उन्हें ही देवादि योनि सुगमता से मिलती है। इसलिए उनमें पूर्वजन्म के अभ्यास द्वारा ब्रह्मविद्या के ज्ञान की सामर्थ्य प्राप्त होती है। अत: साधना की पराकाष्ठा होने पर उन्हें ब्रह्म का साक्षात् होना संभव है। इसलिए आचार्य बादरायण जी का मत है कि मानव से ऊपर वाली योनियों को भी ब्रह्मज्ञान पाने का पूर्ण अधिकार है॥२६॥

उपर्युक्त बात के प्रतिपादनार्थ ही आचार्य स्वयं आशंका प्रकट करके समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(९०) विरोध: कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्॥२७॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो (कि देव आदि को देहधारी मान लेने पर), कर्मणि = (यज्ञादि) कर्म में, विरोध: = विरोध है तो, इति न = तो यह कथन उचित नहीं है, अनेकप्रतिपत्ते: = क्योंकि वे एक ही काल में विभिन्न रूपों को धारण करने वाले हैं, दर्शनात् = शास्त्रों में ऐसा ही देखा गया है।

व्याख्या— यदि देवताओं आदि को भी मनुष्यों की भाँति आकार-प्रकार से युक्त देहधारी मान लें, तो उन्हें एक स्थल (देश-क्षेत्र विशेष) पर निवास करने वाला मानना पड़ेगा। यदि ऐसा माना जाता है, तो एक ही समय में अनेकानेक यज्ञों में प्रदान की जाने वाली आहुतियों को वे किस तरह स्वीकारेंगे; क्योंकि देहधारी होने के कारण वे एक समय में एक ही यज्ञ स्थल पर पहुँच सकते हैं। अत: एक काल में ही अलग-अलग यज्ञों में एक ही देव की आहुति समर्पित करने का विरोध-विधान प्रकट होगा। इस विरोध का सामना तभी होगा, जब देवों को एक स्थल वाला न मानकर सर्वत्र सभी स्थलों पर रहने वाला स्वीकारा जाये। इस आशङ्का का समाधान यह है कि देवगण एक ही काल में अनेक रूप ग्रहण करने की सामर्थ्य-शक्ति रखते हैं। अत: वे एक काल में ही अनेक स्थानों में समर्पित की जाने वाली आहुतियों को स्वीकार कर सकते हैं। बृह.उ. ३/९/१-२ में शाकल्य एवं याज्ञवल्क्य के संवाद के अन्तर्गत एक प्रसंग आता है- 'शाकल्य जी पूछते हैं कि देवता कितने हैं?' याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि -'तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र।' तदुपरान्त पुन: पूछा कि 'कितने देवता हैं?' उन्होंने उत्तर दिया 'तैंतीस।' बारम्बार प्रश्नोत्तर होने पर अन्त में याज्ञवल्क्य जी ने कहा- 'यह सभी तो इनकी महिमा है अर्थात् ये देवगण एक-एक होते हुए भी अनेक हो जाते हैं। यथार्थत: इनकी संख्या मात्र तैंतीस ही है, आदि। इस तरह से श्रुति ने देवों में विभिन्न रूप ग्रहण करने की सामर्थ्य का उल्लेख किया है। योगी साधकों में भी ऐसी शक्ति देखने को मिलती है, अत: इसमें किसी भी तरह का विरोध नहीं है॥२७॥

देवों को देहधारी स्वीकारने से फिर उन्हें विनाशशील स्वीकारना होगा; ऐसी स्थिति में वेद में जिन-जिन देवगणों का उल्लेख मिलता है; उनकी नित्यता नहीं पुष्ट होगी। इस कारण वेद को भी नित्य और प्रमाणभूत मानना अनुचित होगा; अत: इस विरोध का परिहार किस तरह से हो?

अगले सूत्र में इसी आशङ्का का आचार्य समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(९१) शब्द इति चेन्नात: प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥२८॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो कि, शब्दे = (देव को देहधारी स्वीकारने पर) वैदिक शब्द में विरोध आता है तो, इति न = ऐसा कहना उचित नहीं है, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् = क्योंकि यह तथ्य प्रत्यक्ष (वेद) और अनुमान (स्मृति) दोनों ही प्रमाणों से परिपुष्ट होता है, अत: प्रभवात् = इसलिए वेदोक्त शब्द द्वारा ही देव आदि जगत् का उद्भव होता है।

व्याख्या— 'देवों में अनेक देह धारण करने की सामर्थ्य (शक्ति) में विरोध नहीं आता। यह तो उचित है; क्योंकि देहधारी होने से देवों को भी जन्म-मृत्यु वाले स्वीकारना होगा। ऐसी स्थिति में वे अनित्य होंगे और नित्य वैदिक शब्दों के साथ उनके नाम व रूप का नित्य सम्बन्ध भी नहीं रह पायेगा।' ऐसी आशङ्का यहाँ पर

करना उचित नहीं है; क्योंकि जहाँ पर कल्पादि में देवादिकों की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है, वहाँ यह कहा गया है कि ' किस रूप और ऐश्वर्य से युक्त देवता का क्या नाम होगा।' इस तरह से वेदोक्त शब्द से ही उनके नाम, रूप एवं ऐश्वर्यादि की कल्पना की जाती है। इससे यह प्रकट होता है कि कल्पान्तर में देवादि के जीव तो बदल जाते हैं; किन्तु नाम-रूप पूर्वकल्पानुसार ही रहते हैं। यह तथ्य प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण द्वारा भी प्रमाणित है। उपर्युक्त कथन का उल्लेख तैत्ति० ब्रा० २/२/४/२ में इस प्रकार मिलता है-**'सभूरिति व्याहरत् .... सोऽन्तरिक्षमसृजत'** अर्थात्- 'उसने, मन में ही' 'भू' शब्द का उच्चारण किया और फिर भूमि की संरचना की। 'पुनः उसने मन में 'भुवः' का उच्चारण किया, तदनन्तर अन्तरिक्ष की रचना की। इससे यह प्रमाणित होता है कि प्रजापति ने पहले वाचक शब्द का स्मरण करके उसके अर्थभूत की संरचना की। मनु० १/२१ में भी ऐसा ही प्रकरण आया है- **सर्वेषां तु ....'संस्थाश्चनिर्ममे,** अर्थात् 'उन सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर ने सर्वप्रथम सृष्टि के आरम्भ में सबके नाम और अलग-अलग कर्म तथा उन सभी की अलग-अलग व्यवस्थाएँ भी वैदिक शब्दानुसार ही विनिर्मित कीं॥२८॥

अगले सूत्र में उक्त कथनोपदेश को ही वेद की नित्यता में हेतु कहा गया है—

(९२) अतएव च नित्यत्वम्॥२९॥

सूत्रार्थ— अतः = इससे, एव = ही, नित्यत्वम् = वेद की नित्यता या अखण्डता, च = भी सिद्ध होती है।

व्याख्या— ऋग्वेद (१०/७१/३) में उल्लेख है कि 'वेद द्वारा ही सृष्टि का उद्‌भव एवं विकास होता है। सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा वैदिक शब्दानुसार ही सम्पूर्ण जगत् की संरचना करते हैं। इसी से वेदों की नित्यता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है; क्योंकि हर कल्प में परब्रह्म द्वारा वेदों की भी नवीन सर्जना की जाती है; यह कथन अन्यत्र कहीं पर भी देखने को नहीं मिलता। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६/१८ में ऋषि कहते हैं-**'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'** अर्थात्- जो ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न करता और उसके लिए वेदों का प्रदाता है। आगे और भी कहते हैं- आदि सर्गकाल में स्वयम्भुव परब्रह्म, आदि-अन्त रहित, नित्य, दिव्य वेदमयी वाणी का कथन करता है। इसी दिव्य कथन से जगत् की सभी सामाजिक प्रवृत्तियाँ सक्रिय होती हैं। भगवान् वेद व्यास भी कहते हैं- 'युग के समाप्ति काल में इतिहास एवं वेद विलीन हो गये थे, पुनः उन्हें ब्रह्मा जी की आज्ञा द्वारा सृष्टि के प्रारम्भिक काल में ऋषियों ने तप के पश्चात् पाया।' इनके द्वारा भी वेदों का नश्वर होना प्रमाणित नहीं होता॥२९॥

अब यहाँ आशंका यह होती है कि हर एक कल्प में देवों के नाम-रूप परिवर्तित हो जाने से वैदिक शब्दों के शाश्वत होने में विरोध कैसे नहीं आयेगा? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान करते हैं—

(९३) समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च॥३०॥

सूत्रार्थ— च = और, समाननामरूपत्वात् = (कल्पान्तर में उत्पन्न होने वाले देवादिकों के) नाम-रूप पूर्व की ही भाँति होने के कारण, आवृत्तौ = सृष्टि के पुनः उत्पन्न होने पर, अपि = भी, अविरोधः = वैसा ही नाम-रूप होने में किसी भी तरह का विरोध नहीं है, दर्शनात् = क्योंकि (वेद-श्रुति) में भी ऐसा ही वर्णन देखने को मिलता है और, स्मृतेः = स्मृति से भी यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या— महाप्रलय के समय में सृष्टि के विलय होने से पूर्व जो नाम, रूप होते हैं, वही प्रलय के बाद पुनः प्रादुर्भूत होने वाली सृष्टि में भी होते हैं। यहाँ तक कि वेद भी परब्रह्म में एकीभूत हो जाते हैं तथा नव संरचित सृष्टि में पुनः स्व-प्रकाशित हो जाते हैं। 'वेद' प्रतिपादित जो-जो आकार-प्रकार पूर्वकाल में थे, उन्हें देखते हुए, उन्हीं आकार-प्रकारों में उनकी संरचना पुनः होती है। ऋग्वेद १०/१९०/३ में वर्णन मिलता है- **'सूर्या-**

चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अर्थात् 'जगत्-स्रष्टा परब्रह्म ने सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी को पूर्वकाल की भाँति ही विनिर्मित किया है। इसी प्रकार का वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् (६/१८) में भी प्राप्त होता है, देखें- **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवतात्म बुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥'** जो परमात्मा निश्चय ही सृष्टिकाल में सबसे पूर्व ब्रह्मा को प्रकट करता है तथा उन्हें सभी वेदों का उपदेश देता है, उस आत्मज्ञान विषय से सम्बन्धित बुद्धि को उत्पन्न करने वाले प्रसिद्ध देव परब्रह्म की मैं मुमुक्षुभाव से शरण प्राप्त करता हूँ।

ऐसा ही कुछ स्मृतियों (महाभारत) में भी देखने को मिलता है **'तेषां ये यानि कर्माणि .... सृज्यमानाः पुनः पुनः'** अर्थात् पूर्वकल्प की सृष्टि-संरचनाकाल में जिन लोगों ने जिन-जिन कर्मों को स्वीकार किया था, वे ही बाद की सृष्टि-संरचना काल में प्रायः बारम्बार उन्हीं कर्मों को प्राप्त करते रहते हैं। अतः उनकी बारम्बार पुनरावृत्ति होते रहने के कारण भी वेद की नित्यता एवं परिपुष्टता में किसी भी तरह के विरोध की स्थिति नहीं बनती॥३०॥

२६ वें सूत्र में प्रसङ्गवश यह कहा गया है कि ब्रह्मविद्या के अवगाहन में देवादि का अधिकार है, ऐसी भगवान् वेदव्यास जी की मान्यता है। उसी की प्रमाण-पुष्टि ३० वें सूत्र तक की गई। अब अगले सूत्र से आचार्य जैमिनि के अनुसार यह कहा जा रहा है कि ब्रह्मविद्या के अवगाहन का देवों आदि को अधिकार नहीं है, देखें आचार्य जैमिनि के विचार—

(९४) मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः॥३१॥

सूत्रार्थ— मध्वादिषु = मधु-विद्या आदि में, अनधिकारम् = देवताओं आदि का अधिकार न होने की बात, जैमिनिः = आचार्य जैमिनि बतलाते हैं, असम्भवात् = क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है।

व्याख्या— यहाँ आचार्य जैमिनि का कथन अनुचित नहीं है; क्योंकि जो स्वयं ही उपास्य है, वह उपासक कैसे हो सकता है? देवों ने मधु-विद्या का फल रूप वसुत्व प्राप्त किया है, पुनः उन्हें वसुत्व प्राप्ति हेतु कोशिश करने की आवश्यकता नहीं है। छा०उ० के तृतीय अध्याय के अन्तर्गत प्रथम से लेकर एकादश खण्ड तक मधुविद्या का वर्णन प्राप्त होता है। वहाँ सूर्य को देवों का मधु चक्र रूप और अन्तरिक्ष को उस मधु चक्र की धुरी (केन्द्र) बतलाया गया है। सूर्य का देवों के लिए मधुमय होना एवं रश्मियों को छिद्र रूप होना कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यों के लिए साधना द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तु देवताओं को स्वतः प्राप्त है, इस कारण देवताओं के लिए 'मधु विद्या' की प्राप्ति हेतु प्रयास निरर्थक होगा। अतः इस कारण आचार्य जैमिनि ने ब्रह्मविद्या आदि में उनके अधिकार न होने का निर्देश प्रदान किया है॥३१॥

अगले सूत्र में उपर्युक्त कथन की पुष्टि हेतु आचार्य जैमिनि की एक दूसरी युक्ति सूत्रकार दे रहे हैं—

(९५) ज्योतिषि भावाच्च॥३२॥

सूत्रार्थ— ज्योतिषि = ज्योतिर्मय-प्रकाशमय लोकों में, भावात् = देवों की स्थिति होने से, च = भी (उनका यज्ञादि कर्म तथा ब्रह्मविद्या के अवगाहन का अधिकार नहीं है)।

व्याख्या— वे समस्त देवतादि स्वभावतः प्रकाशमय दिव्य लोकों में निवास करते हैं। वहाँ पर उन्हें स्वभाववश ही सभी तरह के अवसर प्राप्त होते रहते हैं। नवीन कर्मों के द्वारा किसी भी प्रकार नूतन ऐश्वर्य समृद्धि पाने का उद्देश्य नहीं है। अतः उन समस्त लोकों की प्राप्ति हेतु बतलाये गये कर्मों में उनकी प्रवृत्ति-असम्भव है। **'तद्देवां ज्योतिषां ज्योतिः'** के आधार पर वे देवगण ज्योतिर्मय पदार्थों के प्रकाशक कहे गये हैं। इसलिए वे ज्योति स्वरूप परब्रह्म के उपासक होने के कारण उनका अन्य विद्या या भिन्न-भिन्न उपासनाओं में अधिकार न होना सहज ही है। उन्हें जिस प्रकार वेद-विहित अन्य विद्याओं का अधिकार नहीं है, वैसे ही ब्रह्मविद्या में भी अधिकार नहीं है॥३२॥

अगले सूत्र में आचार्य सूत्रकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए देवादि के अधिकार सम्बन्धी प्रकरण का समापन करते हैं—

(९६) भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥३३ ॥

सूत्रार्थ— बादरायणः = बादरायण आचार्य, तु = तो (यज्ञादि कर्म एवं ब्रह्म विद्या में), भावाम् = देवादि के अधिकार का भाव मानते हैं, हि = क्योंकि, अस्ति = श्रुति में इसी अधिकार का उल्लेख है।

व्याख्या— आचार्य जैमिनि के द्वारा देवों का मधु-विद्या में अधिकार न होने की बात कहने के बावजूद भी आचार्य बादरायण उनका अधिकार स्वीकार करते हैं। सूत्र में 'तु' पद के द्वारा यह बतलाते हैं कि पूर्वपक्षी का मत शब्द प्रमाण से रहित होने से अमान्य है। अवश्य ही यज्ञादि कर्म एवं ब्रह्मविद्या में देवों का पूर्ण अधिकार है; क्योंकि श्रुति (वेद) में भी उनका यह अधिकार सूचित करने वाले प्रमाण मिलते हैं। तैत्ति० ब्रा० में (२/१/२/८) में देखें- **'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपश्यत्। तदुदिते सूर्येऽजुहोत्'** अर्थात् प्रजापति ने उत्पन्न होने की इच्छा की। उन्होंने अग्निहोत्ररूप मिथुन पर दृष्टिपात किया और सूर्य के उदय होने पर उसका हवन किया। तैत्ति० सं० २/३/३ में भी देवों के कर्म करने का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है- **'देवो वै सत्रमासत'** अर्थात् निश्चय ही देवों ने यज्ञ का अनुष्ठान शुरू किया। उपर्युक्त कथन से देवों का कर्माधिकार सूचित होता है। ऐसे ही ब्रह्मविद्या में देवों का अधिकार बतलाने वाले कथन बृह०उ० (१/४/१०) में देखने को मिलते हैं- 'देवों में से जिसने उस ब्रह्म को जान लिया, वही ब्रह्ममय हो गया। छा०उ० ८/७/२ से ८/१२/६ तक में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है- 'इन्द्र और विरोचन ने ब्रह्माजी की सेवा में रहकर दीर्घावधि तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद ब्रह्मविद्या को प्राप्त किया। अतः उक्त सभी प्रमाणों से यही प्रमाणित होता है कि देवादि को यज्ञादि कर्म करने व ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का पूर्ण अधिकार है ॥३३ ॥

अब आशंका होती है कि क्या सभी वर्णों (जातियों) के लोगों को वेद विद्या की प्राप्ति का अधिकार है? क्योंकि छा.उ. में उल्लेख मिलता है कि रैक्व ने राजा जानश्रुति को शूद्र कहते हुए भी उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि शूद्र को भी ब्रह्मविद्या पाने का अधिकार है। अतः सूत्रकार इसका समाधान करने के लिए अगले सूत्र से नया प्रकरण शुरू करते हैं—

(९७) शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥३४॥

सूत्रार्थ— अस्य = जानश्रुति पौत्रायण नामक राजा के मन में, तदनादरश्रवणात् = उन हंसों के मुख से अपना अनादर श्रवण करने के बाद, शुक् = शोक का जन्म हुआ, तत् = तत्पश्चात्, आद्रवणात् = (जिनकी अपेक्षा अपनी तुच्छता (निन्दा) सुनकर शोक हुआ था) उन रैक्वमुनि के पास वह ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से गया था (इसलिए उस रैक्व ने उसे शूद्र कहकर बुलाया), हि = क्योंकि (इससे), सूच्यते = (रैक्वमुनि की सर्वज्ञता) सूचित होती है।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में राजा जानश्रुति पौत्रायण को रैक्व ने जो शूद्र कहकर पुकारा, इसका यह भाव नहीं है कि वह जाति से शूद्र था, इसलिए शूद्र कहा। **'शुचम् आद्रवति इति शूद्रः'** अर्थात् जो शोक के पीछे दौड़ता है, वही शूद्र है। इस व्युत्पति के आधार पर यहाँ शूद्र शब्द को किसी जाति विशेष का वाचक नहीं मानना चाहिए। रैक्व का ऐसा आशय कदापि नहीं था। यही बात छा० ४/१/१ से ४ तक के प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है। वह प्रकरण इस प्रकार है- जानश्रुति पौत्रायण नामक एक धर्मशील और अन्न-धन दान देने वाला राजा था। एक दिन हंस रूप में दो ऋषि कुमार आपस में विवाद करते हुए जानश्रुति की निन्दा और रैक्वमुनि की प्रशंसा करते उड़ते हुए आकाश में जा रहे थे। राजा को ऐसा सुनने के पश्चात् बहुत दुःख हुआ और वह रैक्व का पता लगाकर सैकड़ों गाय व एक रथ भेंट लेकर रैक्व के पास गये। रैक्व शकट के नीचे बैठे थे। उन्होंने

राजा जानश्रुति से कहा- हे शूद्र! मैं इस धन का क्या करूँगा? तुम ही अपने पास रखो। तब दुःखित जानश्रुति ने घर वापस जाकर अपनी पुत्री को साथ लेकर पुनः रैक्व मुनि के पास जाकर उसका विवाह कर दिया। तब रैक्व ने उसे दिव्य ब्रह्मज्ञान प्रदान किया। इस प्रकार रैक्व जानश्रुति के मन में जन्मे ईर्ष्या भाव को दूर करके उसमें श्रद्धा-भाव प्रकट करने का मन बनाया और अपनी सर्वज्ञता सूचित कर उसे सावधान करते हुए 'शूद्र' कहकर बुलाया। यह जानते हुए कि जानश्रुति क्षत्रिय हैं, शूद्र नहीं। रैक्व मुनि ने उसे 'शूद्र' कहकर इसलिए बुलाया, क्योंकि वह शोक के वशीभूत होकर मेरे पास आया था। इस कारण से यह नहीं सिद्ध होता कि वेदविद्या की प्राप्ति में शूद्र का अधिकार है ॥३४॥

**** यह व्याख्या पारम्परिक है, तत्त्वतः जो शोकानुगामी है, वह शूद्र है; जो वैभवानुगामी है, वह वैश्य है; जो क्षत्र (संरक्षण) उन्मुख है, वह क्षत्रिय एवं जो ब्रह्मोन्मुख है, वह ब्राह्मण है- ऐसी स्थिति में जन्मना जाति के आधार पर अधिकारी का निर्धारण कहाँ तक उचित है?***

राजा जानश्रुति का क्षत्रिय होना किस प्रकार सिद्ध होता है? इस आशंका का समाधान सूत्रकार अब अगले सूत्र में करते हैं—

(९८) क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

सूत्रार्थ— क्षत्रियत्वावगतेः = प्रकरण में आये हुए लक्षण से, जानश्रुति का क्षत्रिय होना जाना जाता है इससे, च = तथा, उत्तरात्र = बाद में बताये हुए, चैत्ररथेन = चैत्ररथ के सम्बन्ध से, लिङ्गात् = क्षत्रियत्व सूचक प्रमाण द्वारा भी (जानश्रुति का क्षत्रिय होना सिद्ध होता है)।

व्याख्या— जानश्रुति को क्षत्रिय मानने के सन्दर्भ में एक और कथा मिलती है- इस कथांश में जानश्रुति को श्रद्धापूर्वक बहुत अन्न-धन-वस्त्रादि दान-दाता एवं अतिथियों के लिए ही बनाकर रखी हुई रसोई से प्रत्येक दिन स्वागत-सत्कार करने वाला बतलाया गया है। उसके राजोचित ऐश्वर्य का भी उल्लेख मिलता है, इसके साथ यह भी बतलाया गया है कि राजकन्या को रैक्व ने पत्नी के रूप में स्वीकार किया है। इन सभी कथानकों से सिद्ध होता है कि वह शूद्र नहीं क्षत्रिय था। इससे यही प्रमाणित होता है कि वेद-विद्या (ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति) में शूद्र-जाति का अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त रैक्व ने अपनी आख्यायिका में कहा है कि शौनक अभिप्रतारि चैत्ररथ-इन दोनों के लिए भोजन परोसने के समय एक भिखारी ने भिक्षा माँगी। इन दोनों के भिक्षा न देने पर उसने कहा कि 'यह अन्न-धन जिसके लिए है, उसे आपने क्यों नहीं प्रदान किया? अन्त में उसे भिक्षा दी गई। इसके साथ ही गाय, रथ, द्रव्य, कन्यादि का दान और अन्नदान आदि कर्म भी क्षत्रिय के ही हैं। उक्त समस्त कथानकों से सिद्ध होता है कि राजा जानश्रुति शूद्र नहीं क्षत्रिय थे। वे दोनों ही शूद्र के यहाँ भोजन कदापि नहीं ग्रहण कर सकते थे। अतः यहाँ यही सिद्ध होता है कि शूद्र-जाति का वेद ज्ञान (ब्रह्मविद्या) की प्राप्ति में अधिकार नहीं है ॥३५॥

उपर्युक्त कथन की सिद्धि के लिए आचार्य अगले सूत्र में एक दूसरा हेतु दे रहे हैं—

(९९) संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

सूत्रार्थ— च = और, संस्कारपरामर्शात् = वेद (श्रुति) में ब्रह्म-विद्या ग्रहण करने के लिए सर्वप्रथम उपनयन आदि संस्कारों के लिए परामर्श होना अनिवार्य कहा गया है, तदभावाभिलापात् = इस कारण शूद्र के लिए उन संस्कारों का अभाव बतलाया गया है, इसलिए भी शूद्र का ब्रह्म विद्या प्राप्ति का अधिकार नहीं है।

व्याख्या— शूद्र के उपनयन आदि संस्कार सम्पन्न नहीं कराये जाते। इस कारण भी उसे वेद (ब्रह्म-विद्या) की प्राप्ति का अधिकार नहीं है; क्योंकि ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति में संस्कार का होना अति आवश्यक बतलाया

गया है। आर्षग्रन्थों में यत्र-तत्र वेदविद्या से सम्बन्धित प्रसङ्ग देखने को मिल जाते हैं। वहाँ पर सर्वत्र यह देखा जाता है कि आचार्य सर्वप्रथम शिष्य का उपनयनादि संस्कार करते हैं। तदुपरान्त उसे ब्रह्म-विद्या का उपदेश प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में मु०उ० (३/२/२०) में ऋषि कहते हैं- **'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यै चीर्णम्'** अर्थात्- 'इस ब्रह्मविद्या का उपदेश उनको ही देना चाहिए, जिन्होंने संस्कार सम्पन्न कराकर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन पूर्ण निष्ठा से किया हो।' छा०उ० में भी ऋषि कहते हैं- **'उपत्वा नेष्ये'** (छा०उ० ४/४/५)। अर्थात् 'तुम्हारा उपनयन संस्कार करूँगा।' शतपथ ब्राह्मण भी निर्देश करता है- **'तः होपनिन्ये'** (श.ब्रा. ११/५/३/१३) अर्थात् 'उसका उपनयन संस्कार संपन्न किया' आदि। इस प्रकार से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में उपनयन आदि संस्कारों का होना अति आवश्यक है और शूद्रों के लिए उन संस्कारों का कोई विधान नहीं बनाया गया है। अत: उक्त दृष्टान्तों से सिद्ध हो जाता है कि शूद्रों को वेद-विद्या का प्राप्ति का अधिकार नहीं है॥३६॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन को दृढ़ करने के लिए एक और कारण बतला रहे हैं—

(१००) तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

सूत्रार्थ— तदभावनिर्धारणे = शिष्य में उस शूद्रत्व का भाव न रहे, यह निश्चित करने के लिए, प्रवृत्तेः = आचार्यों की ऐसी प्रवृत्ति होती है (इससे), च = भी (यही सिद्ध होता है कि शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है)।

व्याख्या— आचार्यों की प्राय: इस तरह की इच्छा रहती है कि उनका प्रत्येक शिष्य शूद्रत्व के भाव वाला न हो। इस हेतु अपना शिष्य बनाने से पूर्व ही वे उसके सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी करना आवश्यक मानते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (४/४/३-५) में जानश्रुति एवं रैक्व की कथा के पश्चात् सत्यकाम जाबाल का प्रसंग इस प्रकार से प्राप्त होता है-'जाबाल के पुत्र सत्यकाम ने महर्षि गौतम के आश्रम में ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की इच्छा से प्रवेश किया और उन्हें प्रणाम कर अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना की। तदनन्तर महर्षि गौतम ने जाति का निश्चय करने के लिए उससे पूछा- 'तेरा गोत्र क्या है' उसने स्पष्ट रूप से कहा-'भगवन्! मैं अपना गोत्र नहीं जानता। मैंने अपनी माँ से गोत्र पूछा था, तो उसने कहा कि 'मुझे गोत्र नहीं ज्ञात है, मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा नाम सत्यकाम है।' अत: मैं तो इतना ही बतला सकता हूँ कि मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूँ।' तत्पश्चात् महर्षि ने कहा- 'इस प्रकार से स्पष्ट और सत्यवचन एकमात्र ब्राह्मण ही कर सकता है अन्य और कोई नहीं।' अत: सत्य वचन रूप से यह निश्चय करके कि सत्यकाम ब्राह्मण है, शूद्र नहीं। उसे महर्षि गौतम ने समित्पाणि होकर आने का आदेश प्रदान किया। तदनन्तर उसका उपनयन संस्कार भी सम्पन्न किया। इससे यही सिद्ध होता है कि शूद्र का वेद-विद्या की प्राप्ति में अधिकार नहीं है॥३७॥

अब अगले सूत्र में आचार्य प्रमाण द्वारा शूद्र के वेद-विद्या (ब्रह्म-विद्या) की प्राप्ति के अधिकार का निषेध करते हैं—

(१०१) श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च॥३८॥

सूत्रार्थ— श्रवण = (अनधिकारी के लिए) वेदादि के श्रवण, अध्ययनार्थ = अध्ययन एवं अर्थ ज्ञान का भी, प्रतिषेधात् = प्रतिषेध किया गया है इससे, च = तथा, स्मृतेः = स्मृति के प्रमाण से भी सिद्ध होता है कि वेद-विद्या की प्राप्ति का अधिकार शूद्र को नहीं है।

व्याख्या— स्मृतियों में वेदादि का पठन-पाठन, श्रवण-मनन एवं अर्थ-सार तत्त्व निकालना, आदि भी शूद्र को निषिद्ध बतलाया गया है। मनुस्मृति ४/८० में कहा गया है-**'न शूद्राय मतिं दद्यात्'** अर्थात् शूद्र के लिए

विद्यादान निषिद्ध है। इसी सन्दर्भ में पराशर स्मृति का वचन भी अनुकरणीय है-'**वेदाक्षरविचारेण शूद्रः पतति तत्क्षणं**' (प०स्मृ०- १/७३) अर्थात्- वेदाक्षरों का अर्थ जानने के लिए विचार करने पर शूद्र तत्क्षण गिर जाता है। ऐसे ही अनेकों स्मृतियों में यत्र-तत्र शूद्र के लिए वेद के सुनने, पढ़ने व अर्थ ज्ञान का प्रतिषेध किये जाने का वर्णन मिलता है। अत: उक्त कथन से यही ज्ञात होता है कि वेदविद्या की प्राप्ति का अधिकार शूद्र को नहीं है। इतिहास में जो विदुर आदि शूद्र जाति वाले महान् पुरुषों को ज्ञान पाने की बात मिलती है, उसका अभिप्राय यही समझना चाहिए कि इतिहास-पुराणों को श्रवण करने और अध्ययन में सभी वर्णों का बराबर का अधिकार है। पुराण आदि श्रेष्ठ साहित्य के द्वारा शूद्र भी परम ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उसे भी भक्ति एवं ज्ञान मिल सकता है। गीता ९/३२ में भी गीताकार कहते हैं कि फल-प्राप्ति में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि भगवान् की भक्ति द्वारा परम गति (मोक्ष) प्राप्त करने में समस्त मानव-जाति का अधिकार है। सभी श्रेष्ठ गति के समान रूप से अधिकारी हैं, इस प्रकार शूद्राधिकरण का प्रकरण यहीं सम्पन्न होता है॥३८॥

अब अगले सूत्र में आचार्य पुनः पूर्वोक्त अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष के स्वरूप पर विचार करते हैं—

(१०२) प्राणः कम्पनात्॥३९॥

सूत्रार्थ— कम्पनात् = कम्पन से (अर्थात् पूर्वोक्त अङ्गुष्ठमात्र पुरुष ब्रह्म ही है, इसलिए उसी में सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है और उस (ब्रह्म) के भय से कम्पित होता है।

व्याख्या— कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय में प्रथम वल्ली से लेकर तृतीय वल्ली के अन्तर्गत (२/१/१२-१३) एवं (२/३/१७) में अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष का प्रकरण देखने को मिलता है। कठ०उ० २/३/२,३ में अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष के रूप में विवेचित उस परम पुरुष-परब्रह्म के प्रभाव का उल्लेख करते हुए यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है, देखें- '**यदिदं किं च ....भवन्ति**' अर्थात्- 'उस परब्रह्म से प्रकट हुआ यह जो कुछ भी सम्पूर्ण जगत् है, वह उस प्राण स्वरूप परब्रह्म में ही चेष्टा करता है। उस उठे हुए बज्र के सदृश श्रेष्ठ-विशाल, भयानक, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा को जो जानते हैं, वे अमरत्व को प्राप्त हो जाते हैं, (कठ० २/३/२)। अगले श्लोक में और भी स्पष्ट संकेत मिलता है'- '**भयादस्याग्निस्तपति ....मृत्युर्धावति पञ्चमः**' (कठ० २/३/३) अर्थात्-इसी (ब्रह्म) के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है, इसी के भय से इन्द्र, वायु एवं पाँचवें मृत्यु के देवता- ये सभी अपने निज-निज कार्यों में संलग्न रहकर दौड़ रहे हैं। उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रमाणित हो जाता है कि अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष ब्रह्म ही है; क्योंकि समस्त विश्व जिसमें चेष्टा करता है या जिसके भय से कम्पायमान होकर समस्त देवगण स्व-स्व कार्यों में रत रहते हैं, वह न तो प्राणवायु हो सकता है और न ही इन्द्र। वायु और इन्द्र स्वयमेव उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए भयभीत रहते हैं। अत: यहाँ अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष ब्रह्म ही है, इसमें कदापि संशय नहीं करना चाहिए॥३९॥

अब अगले सूत्र से आचार्य दहराकाश प्रकरण के अन्तर्गत ज्योतिपद विषयक छूटे हुए विषय पर पुनः विवेचन आरम्भ करते हैं—

(१०३) ज्योतिर्दर्शनात्॥४०॥

सूत्रार्थ— दर्शनात् = दर्शन (देखने) से (वह), ज्योति: = ज्योति स्वरूप ब्रह्म है। अर्थात् '**ज्योति:**' पद ब्रह्म का वाचक है; क्योंकि वह सभी का प्रकाशन-दर्शन करने वाला है तथा उसी का अन्तिम रूप से दर्शन ज्ञान आवश्यक होता है।

व्याख्या— 'ज्योति:' पद की ब्रह्मवाचकता के प्रसंग में मुण्डकोपनिषद् २/२/९ में इस प्रकार वर्णन मिलता है- 'विशिष्ट ज्ञान को प्रकट करने वाले हिरण्मय सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोश में दोषरहित निरवयव ब्रह्म के दर्शन होते

हैं। वह शुभ्र प्रकाश स्वरूप व ज्योतियों का ज्योति अर्थात् परम ज्योति है, आत्मज्ञानीजन उसे जानते हैं। वह ज्योतियों का ज्योति किस प्रकार है ? इसी का रहस्य ऋषि अगले मंत्र २/२/१० में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् ....** अर्थात् यद्यपि सूर्य अन्य सभी जड़ जगत् का प्रकाशक है; किन्तु वह ब्रह्म के प्रकाशन में सर्वथा असमर्थ है। इसी तरह वह (ब्रह्म) चाँद, तारे, विद्युत् एवं अग्नि से प्रकाशित नहीं होता, वरन् उसके प्रकाश से ही ये सभी प्रकाशमान होते हैं। इन सभी का अस्तित्व ब्रह्म की प्रेरणा द्वारा ही मिलता है, अत: इनका प्रकाशित होना ब्रह्म के अस्तित्व पर निर्भर करता है। उसके प्रकाशन से ये सभी प्रकाशित हैं। इसलिए वह ज्योतियों का ज्योति अर्थात् 'परम ज्योति' है। छा०उ० ८/३/४ में इस प्रकरण से सम्बन्धित प्रसंग इस प्रकार है- 'यह जो सम्प्रसाद (जीव) है, वह देह से निकलकर 'परम ज्योति' को पाकर निज स्वरूप से युक्त हो जाता है। यहाँ जो 'ज्योति:' शब्द आया है, वह परब्रह्म का ही वाचक है; क्योंकि उपनिषद् में अनेकों स्थानों पर ब्रह्म के अर्थ में 'ज्योति:' शब्द देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ यह मंत्र देखें- **'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते'** (छा०उ० ३/१३/७) अर्थात् इस अन्तरिक्ष लोक से परे जो 'परम ज्योति' प्रकाशमान है। यहाँ ज्योति: पद ब्रह्म के अर्थ में ही प्रयुक्त है।

उपनिषदों के उक्त सन्दर्भों में 'ज्योति:' पद से उसी ब्रह्म का वर्णन हुआ है। उन सन्दर्भों में 'ज्योति:' को निरवयव, निर्दोष, अमृत, उत्तमपुरुष, अन्तिम दर्शनीय ध्येय कहा है। ये सभी स्थितियाँ एकमात्र ब्रह्म में ही संभव हैं। इसलिए उक्त प्रसंगों में 'ज्योति:' पद ब्रह्म का ही वाच्य है ॥४० ॥

अब आशंका यह होती है कि 'दहराकाश' के प्रकरण में आया हुआ 'आकाश' शब्द ब्रह्म का वाचक है; किन्तु छा०उ० ८/१४/१ में जो 'आकाश' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह किस शब्द के अर्थ में है ? आचार्य अगले सूत्र में इसी के निर्णय हेतु समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(१०४) आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१ ॥

सूत्रार्थ— अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् = नाम-रूपमय जगत् से पृथक् कहे जाने के कारण, आकाश: = 'आकाश' शब्द ब्रह्म का ही वाचक है।

व्याख्या— इसका वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् (८/१४/१) में इस प्रकार किया गया है- **'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म तदमृतः स आत्मा'** अर्थात् जो नाम और रूप का निर्वहन करने वाला 'आकाश' नामक प्रसिद्ध तत्त्व है, तथा वे (नाम और रूप) दोनों जिसके मध्य में स्थित हैं, वही तत्त्व ब्रह्म है, अमृत और आत्मा भी वही है। इस प्रकरण में 'आकाश' को नाम-रूप से पृथक् एवं नामरूपात्मक विश्व को ग्रहण करने वाला कहा गया है। इसलिए वह भूताकाश या जीव का वाची नहीं हो सकता; क्योंकि वह भूताकाश सहित सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक विश्व को अपने में ही ग्रहण करने वाला है। वह ब्रह्म ही यहाँ 'आकाश' नाम से संबोधित किया गया है। पूर्व में जो ब्रह्म, अमृत और आत्मा आदि विशेषण दिये गये हैं, वे भी भूताकाश या जीवात्मा के अनुकूल नहीं हैं। इस कारण उनसे पृथक् 'ब्रह्म' नाम से वहाँ 'आकाश शब्द' का ही उल्लेख किया गया है ॥४१ ॥

अब आशंका यह होती है कि जीवात्मा जब मोक्ष के पश्चात् ब्रह्म को पा लेता है, तब उस समय उसमें ब्रह्म के समस्त लक्षण आ जाते हैं। इसलिए उसी को यहाँ 'आकाश' नाम से कहा गया है। यदि ऐसा मान लिया जाये, तो क्या आपत्ति है ?

अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान करते हैं—

(१०५) सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२ ॥

सूत्रार्थ— सुषुप्त्युक्रान्त्यो: = सुषुप्ति और मरणकाल में भी, भेदेन = (जीव और ब्रह्म का) भेदपूर्वक

वर्णन है, अत: 'आकाश' शब्द यहाँ ब्रह्म का ही वाचक है।

व्याख्या— उपनिषद्कार (छा० ६/८/१ में) सुषुप्तिकाल के सन्दर्भ में कहते हैं कि 'जिस अवस्था में यह पुरुष शयन करता है, उस समय यह सत् अर्थात् अपने कारण से सम्पन्न (संयुक्त) होता है। इस दशा का उल्लेख १/१/९ में विस्तार पूर्वक किया जा चुका है। यह वर्णन सुषुप्तावस्था का है।' यहाँ जीव का 'पुरुष' नाम से और कारणभूत ब्रह्म का 'सत्' नाम से भेद पूर्वक उल्लेख प्राप्त होता है। इसी प्रकार उत्क्रान्ति का भी उल्लेख (छा०उ० ८/३/४ में) मिलता है- 'यह जीव इस देह से निकलकर परम ज्योतिमय परब्रह्म को प्राप्त कर अपने शुभ्र ज्योतिरूप से संयुक्त हो जाता है।' यहाँ पर भी सम्प्रसाद नाम से जीव का और परम ज्योति के नाम से ब्रह्म का भेद पूर्वक वर्णन किया गया है। इस तरह से सुषुप्ति काल और उत्क्रान्तिकाल में भी जीव और ब्रह्म का भेद पूर्वक उल्लेख होने के कारण उक्त 'आकाश' शब्द मुक्तात्मा वाची नहीं हो सकता; क्योंकि मुक्तात्मा में ब्रह्म की भाँति कुछ सद्गुणों का प्रकटीकरण होने से भी उसमें नाम और रूपमय जगत् को ग्रहण करने की शक्ति नहीं प्राप्त होती। यहाँ पर भी सर्वज्ञ आत्मा एकमात्र 'ब्रह्म' के लिए प्रयुक्त है॥४२॥

अगले सूत्र में उक्त कथन के प्रमाण हेतु एक अन्य कारण आचार्य प्रस्तुत करते हैं—

(१०६) पत्यादिशब्देभ्यश्च॥४३॥

सूत्रार्थ— पत्यादिशब्देभ्य: = श्रुति में ब्रह्म के लिए पति, अधिपति, परमपति, परमपिता, महेश्वर आदि शब्दों का प्रयोग होने के कारण भी जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट सिद्ध होता है।

व्याख्या— ब्रह्म को जिन पृथक्-पृथक् विभिन्न विशेषणों से संबोधित किया जाता है, वे विशेषण जीवात्मा के लिए कदापि सम्भव नहीं हैं। **'एष सर्वेश्वरः', 'एष भूताधिपतिरेष भूतपाल:'**(बृह०उ०४/४/२२)। यह मंत्र एकमात्र ब्रह्म के निमित्त ही प्रयुक्त हो सकता है। जीव अपनी मुक्तावस्था में सर्वेश्वर या समस्त भूत-प्राणियों का अधिपति नहीं हो सकता है; क्योंकि एकमात्र ब्रह्म ही जीवों के हृदय में रहकर उन पर शासन करता है। बृहदारण्यक का उक्त मंत्र यहाँ ब्रह्म के सर्व सामर्थ्य युक्त भाव को प्रकट करता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/७/ में भी परब्रह्म के स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार से मिलता है, देखें- **तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥** (श्वे०उ० ६/७)

अर्थात्-'समस्त ईश्वरों के भी परम महेश्वर, देवों के भी परमदेव एवं पतियों के भी परमपति, अखिल विश्व ब्रह्माण्ड के स्वामी और स्तवन करने योग्य उस प्रकाश स्वरूप परब्रह्म को हम सभी लोग सबसे परे मानते हैं।'

उपर्युक्त मंत्र में देव आदि की श्रेणी में जीव है तथा परम देवता, परम अधिपति आदि के नाम से परब्रह्म का ही उल्लेख किया गया है। इससे भी यही निश्चय होता है कि जीव और ब्रह्म में भेद है। अत: इस कारण से भी 'आकाश' शब्द ब्रह्म का वाची है, मोक्ष को प्राप्त किये हुए जीवात्मा का नहीं॥४३॥

॥ इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः॥

॥ अथ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः ॥

उपर्युक्त तीन पादों में परब्रह्म को जगत् के जन्मादि का कारण कहकर श्रुतिवचनों के द्वारा वे तथ्य प्रतिपादित किये गये हैं। उपनिषदों में जिस-जिस स्थल पर संदेह होता था, उस-उस पर विचार कर उसके संदेह का निदान किया गया। आनन्दमय, आकाश, प्राण, ज्योति आदि जो भी शब्द ब्रह्ममय नहीं प्रतीत होते थे, जीव या जड़ प्रकृति के बोधक प्रतीत होते थे, उन सभी को ब्रह्म का वाची प्रमाणित किया गया।

अब आशंका होती है कि वेद-श्रुति में प्रकृति का उल्लेख कहीं पर हुआ है अथवा नहीं। यदि उल्लेख है, तो उसका स्वरूप क्या है? इन्हीं समस्त ज्ञातव्य विषयों पर विचार करने के लिए यह चौथा पाद शुरू किया जाता है। कठ०उ० में जो 'अव्यक्त' नाम आया है; वहाँ 'अव्यक्तम्' पद प्रकृति वाची है या अन्य किसी का वाचक है।

इसी आशंका का समाधान आचार्य इस अगले सूत्र में करते हैं—

(१०७) आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥१॥

सूत्रार्थ— एकेषाम् = एक शाखा वालों के मत में वेद-प्रतिपादित, आनुमानिकम् = अनुमान कल्पित जड़-प्रकृति को, अपि = भी (जगत् की उत्पत्ति का कारण कहा गया), इति न = तो ऐसा कहना उचित नहीं है, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः = क्योंकि शरीर ही यहाँ रथ के रूपक में 'अव्यक्त' शब्द से ग्रहण होता है, च = और यही तथ्य, दर्शयति = श्रुति भी प्रकट करती है।

व्याख्या— यदि यह कहें कि कठ०उ० १/३/११ में जो 'अव्यक्तम्' पद प्रयुक्त हुआ है, वह अनुमान पर आधारित जड़ प्रकृति वाची है, तो ऐसा कहना यहाँ उचित नहीं प्रतीत होता है। इसका कारण है कि आत्मा, शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रिय एवं विषयादि की जो रथ, रथी और सारथि आदि के रूप में कल्पना की गई है, उसी के अन्तर्गत रथ के स्थान पर देह को रखा गया है। उसी का नाम यहाँ पर 'अव्यक्त' रखा गया है। यही तथ्य उक्त प्रकरण में उद्भासित हुआ है।

कठ०उ० के इस रूपक-प्रकरण में आत्मा को रथी, देह को रथ, बुद्धि को सारथि, मन को लगाम, इन्द्रियों को अश्व और विषय वासनाओं को उन अश्वों का भोजन कहा गया है। इनके द्वारा परमपद स्वरूप ब्रह्म को ही पाने योग्य कहा है। इस प्रकरण में सात पदार्थों की कल्पना की गई है। उन्हीं सातों का उल्लेख एक दूसरे को शक्तिशाली बनाने में भी होना चाहिए; किन्तु वहाँ इन्द्रियों की अपेक्षा विषयों को शक्ति सम्पन्न कहा गया है।

जिस तरह भोजन (चारा-दाना) देखकर अश्व हठात् उस ओर आकर्षित होते हैं, उसी तरह इन्द्रियाँ भी बलपूर्वक विषयों की तरफ खिंच जाती हैं। विषयों से परे मन की स्थिति बताई गयी है; क्योंकि सारथि यदि लगाम को सतर्कतापूर्वक खींचे रहे, तो अश्व अपने भोजन की तरफ बलात् नहीं जा सकते। उसके बाद मन से परे बुद्धि को कहा गया है, वही सारथि है। लगाम की अपेक्षा सारथि को श्रेष्ठ कहना ठीक ही है; क्योंकि लगाम सारथि के पास रहती है। बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा है। इसी को 'रथी' के रूप में कहा हुआ जीवात्मा ही मानना चाहिए। यहाँ यदि 'आत्मा' का अर्थ महत्तत्त्व मान लें, तो इस प्रकरण (रूपक) में दो दोष दिखाई देते हैं। प्रथम तो बुद्धि रूपी सारथि के मालिक रथी आत्मा का त्याग और दूसरा जिसका रूपक में उल्लेख नहीं है, उस महत् तत्त्व की व्यर्थ कल्पना करना।

अतः यहाँ रथी के रूप में वर्णित महान् आत्मा ही जीवात्मा है और फिर महान् आत्मा से श्रेष्ठ जो 'अव्यक्त' कहा गया है, वही भगवत्सत्ता की शक्ति रूपा प्रकृति है। उसी का अंश कारण-शरीर। उसे ही इस प्रकरण में रथ का रूप प्रदान किया गया है। इसलिए कारण शरीर भगवान् की प्रकृति का अंश होने के कारण

ही यहाँ पर 'अव्यक्त' के नाम से संबोधित किया गया है ॥१ ॥

अब आशंका यह उठती है कि शरीर को 'अव्यक्त' कहना किस प्रकार उचित होगा; क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष ही व्यक्त है। अगले सूत्र में आचार्य यही स्पष्ट करते हैं—

(१०८) सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२ ॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, सूक्ष्मम् = यहाँ पर 'शरीर' शब्द से सूक्ष्म शरीर का ग्रहण होता है, तदर्हत्वात् = क्योंकि परमधाम की यात्रा में रथ के स्थान पर उसे ही मानना ठीक है।

व्याख्या— परब्रह्म परमात्मा की प्रकृति अति सूक्ष्म कही गई है। वह दर्शन और विवेचन से परे है। उसी का अंश ही कारण-शरीर है,इसलिए उसे अव्यक्त मानना उचित ही है। इसके अतिरिक्त जीवात्मा के परमधाम में पदार्पण के समय व्यक्त (प्रकट) शरीर तो यहीं (मृत्युलोक में) रह जाता है। वहाँ तो मात्र अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म शरीर ही रथ के रूप में गमन करता है। इस कारण से भी सूक्ष्म का 'अव्यक्त' मानना उचित है।

सृष्टि के प्रलयकाल के समय में इस दृष्टिगोचर होने वाले सम्पूर्ण जगत् के सूक्ष्म भाव को स्वीकार करने के विवरण भी श्रुतियों में प्राप्त होते हैं। इस कारण से भी देह का सूक्ष्म भाव से प्रकट न होना अर्थात् 'अव्यक्त' होना सिद्ध होता है। इस उक्त विषय का विस्तार इसी शास्त्र के अन्तर्गत सूत्र ४/२/५ से ४/२/११ में किया गया है ॥२ ॥

अब आशंका यह होती है कि जब प्रकृति के अंश को 'अव्यक्त' के रूप में मान लिया, तब फिर सांख्य में वर्णित प्रधान को मानने में क्या आपत्ति है ? सांख्य भी तो भूतों के कारण रूप सूक्ष्म तत्त्व को ही 'प्रकृति' कहता है। इसी का समाधान आचार्य अगले सूत्र में प्रतिपादित करते हैं—

(१०९) तदधीनत्वादर्थवत् ॥३ ॥

सूत्रार्थ— तदधीनत्वात् = उस परम कारणभूत परब्रह्म के होने से भी, अर्थवत् = वह (शक्तिरूपा प्रकृति) इस अर्थ में ग्रहणीय है।

व्याख्या— सांख्य के अनुसार प्रकृति को स्वतन्त्र और जगत् का मूल कारण बतलाया गया है; किन्तु वेद (श्रुति) में ऐसा प्रतिपादन नहीं है। वहाँ (वेद में) तो परब्रह्म को ही सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण माना गया है और प्रकृति को परब्रह्म के अधीन रहकर सृष्टि आदि कार्यों के सम्पन्न करने में ही उसकी सार्थकता कही गई है। वेद में प्रकृति ब्रह्म की शक्ति कहा गया है। शक्ति शक्तिमान् से पृथक् नहीं होती। इसलिए उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जाता। इस प्रकार परमेश्वर के अधीन उसी की एक शक्ति होने से उसकी सार्थकता है; क्योंकि शक्ति होने से ही शक्तिमान् ब्रह्म के द्वारा विश्व की सृष्टि आदि कार्यों का सम्पन्न होना सम्भव है।

यदि ब्रह्म को शक्ति रहित मान लें, तो वह इस जड़-चेतनमय सम्पूर्ण विश्व का कर्त्ता-धर्त्ता और संहर्त्ता किस तरह हो सकता है और फिर उसे शक्तिमान् भी कैसे माना जा सकता है ? इसका स्पष्ट उल्लेख श्वेता०उ० १/३ में इस प्रकार मिलता है- 'योगियों ने ध्यानयोग में आरूढ़ होकर उस परमदेव की स्वरूपभूता अचिन्त्य शक्ति का यथार्थ बोध किया, जो स्वयं अपने निज के गुणों से आवृत है। आगे यह भी वर्णन मिलता है कि उस परब्रह्म की स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया रूप शक्तियाँ विभिन्न तरह की सुनने को मिलती हैं। सूत्र में ब्रह्म की शक्ति के नाम से ही प्रकृति का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रकृति को स्वतन्त्र इकाई के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है ॥३ ॥

श्रुति में वर्णित प्रकृति सांख्योक्त प्रधान नहीं है। आचार्य अगले सूत्र में इसी तथ्य को दृढ़ करने हेतु एक अन्य कारण बतलाते हैं—

(११०) ज्ञेयत्वावचनाच्च ।।४।।

सूत्रार्थ— ज्ञेयत्व = अव्यक्त, निश्चय ही ज्ञेय है, ऐसा; अवचनात् = वेद में वर्णित (वचन) न होने से, च = भी ब्रह्म को ही ज्ञेय मानना चाहिए। (यह सांख्योक्त प्रधान नहीं है)।

व्याख्या— सांख्य शास्त्र के अनुयायी प्रकृति को ही ज्ञेय (जानने योग्य) मानते हैं। उनका कथन है- **'गुणपुरुषान्तर ज्ञानात् कैवल्यम्'** अर्थात्- 'गुण-संयुक्ता प्रकृति और पुरुष की भिन्नता जान लेने से कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।' प्रकृति के स्वरूप को सम्यक् रूप से जाने बिना उससे पुरुष का पृथक्त्व (भेद) किस प्रकार ज्ञात होगा? अत: उनके मतानुसार प्रकृति भी ज्ञेय है। दोनों की पृथक्ता को जानने के लिए सर्वप्रथम प्रकृति को जानना होगा; किन्तु वेद (श्रुति) में प्रकृति को ज्ञेय अथवा उपास्य कहीं पर भी नहीं कहा गया है। वेद में तो एकमात्र ब्रह्म को ही जानने योग्य एवं उपासना के योग्य होने का वर्णन प्राप्त होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रकृति को माया और उसके अधिपति परमेश्वर को 'मायी' कहा गया है। यह 'मायी' पुरुष अपनी माया से ही विश्व की संरचना करता है। इससे यह सिद्ध होता है, कि सांख्य में वर्णित 'प्रधान' को ज्ञेय कहना उचित नहीं, एकमात्र 'ब्रह्म' ही ज्ञेय है। वेद में वर्णित प्रकृति सांख्य में वर्णित प्रकृति (प्रधान) तत्त्व से पृथक् है।।४।।

अगले सूत्र में आचार्य अपने मत की प्रामाणिकता के प्रति स्वयं ही आशंका व्यक्त कर उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(१११) वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्।।५।।

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहें कि, वदति = (श्रुति प्रकृति को भी) ज्ञेय बतलाती है, इति न = ऐसा कहना उचित नहीं है, हि = क्योंकि, प्राज्ञ: = (वहाँ ज्ञेय तत्त्व) ब्रह्म ही है (उसे ही जानना चाहिए), प्रकरणात् = प्रकरण से (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या— कठोपनिषद् में जहाँ पर 'अव्यक्त' शब्द का प्रसङ्ग आया है, उसी प्रकरण में कठ० १/३/१५ में यह वर्णन मिलता है कि 'जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि से रहित अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, महत् से परे श्रेष्ठ और अचल है। ऐसे उस श्रेष्ठ तत्त्व को जानने के पश्चात् प्राणी मृत्यु के मुख से छूट जाता है अर्थत् अमर हो जाता है।

'यहाँ सूत्र में ज्ञेय तत्त्व के जो भी लक्षण कहे गये हैं, वे सभी सांख्योक्त प्रधान से मेल खाते हैं, अत: यहाँ पर प्रधान को ही 'ज्ञेय' कहना सिद्ध होता है।' ऐसा यदि कोई कहे, तो उसका यह कथन उचित नहीं; क्योंकि यहाँ परब्रह्म के स्वरूप वर्णन का ही प्रकरण है। यत्र-तत्र सर्वत्र उसी को जानने एवं प्राप्त करने योग्य कहा गया है। उक्त सूत्र जो यहाँ पर उद्धृत किया गया है, उसमें व्यक्त सभी लक्षण ब्रह्म में ही यथार्थत: मेल खाते हैं। इसलिए उसमें भी ब्रह्म के ही स्वरूप का प्रतिपादन एवं उसके ज्ञेयत्व का वर्णन किया गया है। अत: इस उक्त प्रकरण से यह सिद्ध होता है कि वेद में ब्रह्म को ही ज्ञेय (जानने योग्य) कहा गया है और उसी को जानने का परिणाम ही मृत्यु के मुख से छूटना अर्थात् अमरत्व की प्राप्ति कहा गया है।।५।।

कठ०उ० में यम-नचिकेता संवाद के अन्तर्गत अग्नि, जीवात्मा और ब्रह्म-इन तीन का ही प्रकरण मिलता है। इसी तरह चौथे 'प्रधान' तत्त्व का भी प्रकरण मान लें, तो क्या आपत्ति है? इसी को आचार्य अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—

(११२) त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥

सूत्रार्थ— त्रयाणाम् = (कठोपनिषद् में) तीन का, एव = ही, एवम् = इस प्रकार ज्ञेयत्व का, उपन्यासः = उल्लेख किया गया है, च = तथा (उन्हीं उक्त तीनों के सन्दर्भ में), प्रश्नः = प्रश्न भी (किये गये) हैं।

व्याख्या— कठोपनिषद् में यम-नचिकेता संवाद के अन्तर्गत अग्नि, जीवात्मा और ब्रह्म- इन्हीं तीनों को जानने के प्रकरण में प्रश्नोत्तर किये गये हैं। अग्नि के सम्बन्ध में कठ०उ० १/१/१३ में इस प्रकार प्रश्न मिलता है- 'हे यमराज! आप स्वर्ग प्राप्ति के साधन रूप अग्नि के ज्ञाता हैं, अतः मेरे लिए वह अग्निविद्या विधिवत समझायें।' इसके बाद जीव-सम्बंधी प्रश्न कठ.उ. १/१/२० में इस प्रकार किये गये हैं- 'मृत्यु को प्राप्त हुए प्राणी के सम्बन्ध में कोई तो यह कहता है कि वह मृत्यु के बाद रहता है और कोई कहता है 'नहीं रहता।' अतः इस आशङ्का का निर्णय मैं आपके द्वारा उपदेश प्राप्त कर जानने की इच्छा रखता हूँ।' तदनन्तर आगे ब्रह्म के सन्दर्भ में कठ०उ० १/२/१४ में इस तरह का प्रश्न देखने को मिलता है- 'जो धर्माधर्म दोनों से कार्य-कारण रूप समस्त विश्व से एवं भूत, वर्तमान और भविष्यत्-इन तीनों भेदों वाले काल से तथा तत्सम्बन्धी सभी पदार्थों से परे है, ऐसे जिस तत्त्व को आप जानते हैं, उसी का उपेदश करें।'

इस प्रकार से उक्त तीनों सम्बन्ध में नचिकेता के प्रश्न और यम के उत्तर (समाधान) भी हैं। अग्नि सम्बन्धी प्रश्न का समाधान क्रमशः १/१/१४ से १९ तक के मन्त्रों में दिया गया है। जीव विषयक प्रश्न का उत्तर १/२/१८,१९ में और फिर २/२/७ में दिया गया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर १/२/२० से लेकर उपनिषद् की समाप्ति तक किया गया है। यत्र-तत्र जीव के सन्दर्भ में भी उल्लेख मिलता है, किन्तु 'प्रधान' (प्रकृति) के विषय में न तो कोई प्रश्न है और न ही उत्तर मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ उपर्युक्त तीनों के अतिरिक्त चौथे 'प्रधान' का प्रसङ्ग ही नहीं प्राप्त होता है॥६॥

अब आशंका यह होती है कि जब प्रधान का वाचक 'अव्यक्त' शब्द उक्त प्रकरण में पड़ा है, तो फिर उसे दूसरे अर्थ में कैसे प्रयुक्त किया जा सकता है ? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान प्रस्तुत करते हैं-

(११३) महद्वच्च ॥७॥

सूत्रार्थ— च = और, महद्वत् = 'महत्' शब्द की भाँति इसको भी दूसरे अर्थ में मानना उचित है।

व्याख्या— शास्त्रों व श्रुतियों में 'महत्' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। यजुष् ३१/१८ में महत् पद का प्रयोग ब्रह्म के लिए हुआ है। कठ० १/२/२० में इसका प्रयोग लोक-लोकान्तरों के लिए किया गया है। कठ० २/३/२ में 'महत्' पद 'अधिक' अर्थ को प्रकट करता है। सांख्य में 'महत्' को महत्तत्त्व का वाचक न होकर आत्मा के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। कठ० १/३/१० में महत् शब्द का प्रयोग जीवात्मा के अर्थ में इस प्रकार आया है- 'बुद्धि से महान् (पृथक्) आत्मा परे है।' यहाँ आत्मा को बुद्धि से परे कहा गया है; किन्तु सांख्यवादी महत्तत्त्व को बुद्धि का वाचक ही मानते हैं। इस प्रकार से यहाँ पर 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ सांख्यमत वालों से पृथक् मानना ही उचित है। यहाँ 'महत्' शब्द जीवात्मा का वाचक है। इस प्रकार श्रुति में जगह-जगह 'महत्' शब्द का प्रयोग सांख्य मत के विपरीत देखा जाता है, वैसे ही 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ सांख्यमत से भिन्न मानना ही ठीक है॥७॥

श्वेताश्वतर उपनिषद् १/९ और ४/५ में 'अजा' शब्द से अनादि प्रकृति का उल्लेख मिलता है। वहाँ उसे श्वेत, लाल और काला इन तीन वर्णों वाला बताया गया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सांख्य मतोक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति को ही वेद में जगत् का कारण माना गया है। यहाँ ऐसी आशंका होने पर आचार्य अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत करते हैं-

(११४) चमसवदविशेषात् ॥८॥

सूत्रार्थ— ('अजा' शब्द वहाँ सांख्य मतोक्त प्रकृति वाची है, ऐसा सिद्ध नहीं होता; क्योंकि) अविशेषात् = किसी प्रकार की विशेषता न बतलाने से, चमसवत् = चमस के समान (उसे दूसरे अर्थ में भी लिया जा सकता है)।

व्याख्या— श्वेता०उप० १/९ एवं ४/५ में वर्णित 'अजा' शब्द प्रकृति का वाचक माना गया है; किन्तु वह सांख्यमतानुयायी प्रकृति है, ऐसा कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। यहाँ पर 'अजा' शब्द 'स्वरूपभूता' वह पुरुष सृष्टि कारिणी शब्द का विशेषण होने के कारण प्रकृति का साक्षात्कार होता हो, सो ऐसा भी नहीं है। श्रुति में जिस 'अजा' नामक शब्द का उल्लेख मिलता है, उसका नाम चाहे जो भी कुछ रख लिया जाये, किन्तु यथार्थत: वह परब्रह्म की अधीनस्थ अचिन्त्य शक्ति है। वह उस अविनाशी ब्रह्म से पृथक् नहीं है। श्रुति में स्पष्ट किया गया है- 'जगत् का कारण कौन है ?' इस पर चिन्तन करने वाले ऋषियों ने ध्यान योग स्थित होकर उस ब्रह्म की स्वरूपभूता अपने ही गुणों से गुह्य हुई अचिन्त्य शक्ति को ही कारण रूप में देखा और यह धारणा बनाई कि जो ब्रह्म अकेला ही काल, स्वभाव आदि से लेकर आत्मा पर्यन्त सभी तत्त्वों का केन्द्रक है, जिसके द्वारा वे ही सब निज-निज स्थल में कारण होते हैं, वह ब्रह्म इस जगत् का कारण है।

इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि वेद में 'अजा' नाम से जिस प्रकृति का उल्लेख किया गया है, वह प्रभु के अधीन-आश्रित उन्हीं की अभिन्न रूपा अचिन्त्य शक्ति है, सांख्यमतानुयायी कथित स्वतन्त्र प्रकृति नहीं। इसी तथ्य को प्रकट करने हेतु सूत्र में कहा गया है कि जिस तरह 'चमस' शब्द रूढ़ि से सोमपान के लिए विनिर्मित पात्र विशेष का वाची होने पर भी बृह०उ० २/२/३ में आये हुए 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न:' इत्यादि मंत्र में वह 'शिर' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ठीक वैसे ही यहाँ पर 'अजा' शब्द भगवत्सत्ता की स्वरूपभूता अनादि अचिन्त्य शक्ति के अर्थ में प्रयोग किया गया है। ऐसा मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है; क्योंकि यहाँ पर ऐसा कोई विशेष कारण नहीं दिखाई पड़ता, जिससे कि 'अजा' शब्द से सांख्यमतोक्त स्वतन्त्र प्रकृति को स्वीकार किया जाये अर्थात् सांख्य मत के द्वारा प्रतिपादित प्रकृति का ग्रहण नहीं होता॥८॥

अब जिज्ञासा यह उठती है कि 'अजा' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त है, उसे न ग्रहण कर यहाँ पर दूसरा कौन सा अर्थ ग्रहण किया गया है? इसी का समाधान किया जा रहा है—

(११५) ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके॥९॥

सूत्रार्थ— तु = अवश्य ही, ज्योतिरुपक्रमा = यहाँ 'अजा' शब्द तेज आदि त्रिविध तत्त्वों की कारणभूता ब्रह्म की शक्ति का वाची है अर्थात् ब्रह्म से ही उद्‌भूत है, हि = क्योंकि, एके = एक शाखा वाले, तथा = ऐसे ही, अधीयते = अध्ययन करते हैं।

व्याख्या— वेदों में वर्णित 'अजा' शब्द ब्रह्म के द्वारा ही उद्‌भूत है। स्वतंत्र रूप से उसकी सत्ता प्रतिपादित नहीं है। उसे 'ज्योति' शब्द से भी संबोधित करना ठीक ही है; क्योंकि उसका प्रकाशक ब्रह्म ही है। ज्योति शब्द से उपक्रम होने से 'अजा' शब्द को ब्रह्म की शक्ति बतलाना उचित ही है। छा०उ० ६/२/३,४ में ब्रह्म से उत्पन्न तेज आदि तत्त्वों से जगत् के विस्तार का उल्लेख मिलता है। अत: यही मानना ठीक है कि उनकी कारणभूता ब्रह्मशक्ति को ही 'अजा' कहा गया है। छा०उ० ६/४/१ से ७ तक में इसका वर्णन इस प्रकार है- 'उस ब्रह्म ने विचार किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ।' फिर उसने तेज की रचना की, तदुपरान्त तेज से जल और जल से अन्न की उत्पत्ति बतलाई। इसके पश्चात् इनके तीन रूपों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है- अग्नि का लाल रंग ही तेज है, सफेद रंग जल का है और काला रंग अन्न (पृथिवी) का है। इस तरह से

हर वस्तु में उक्त तेज आदि तीनों तत्त्वों का विस्तार से उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार श्वे०उ० में भी जो 'अजा' के तीन रंग कहे गये हैं, वे भी तेज आदि में प्राप्त होते हैं। अत: निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि यहाँ अजा के नाम से प्रकृति का ही वर्णन है।

यदि प्रकृति का वर्णन मान भी लें, तो भी यही मानना पड़ेगा कि वह उस ब्रह्म के आश्रित रहने वाली उसी की अभिन्न शक्ति है, जो उपर्युक्त तेज आदि तीनों तत्त्वों का भी कारण है। सांख्य मतोक्त प्रकृति का वहाँ उल्लेख नहीं है; क्योंकि; श्वे०उ० १/१० में जहाँ उसका 'प्रधान' के नाम से उल्लेख किया गया है, वहाँ भी उसे स्वतन्त्र स्वीकार नहीं किया गया। वहाँ क्षर-प्रधान अर्थात् अपरा प्रकृति और अक्षर जीवात्मा अर्थात् परा-प्रकृति इन दोनों पर शासन करने वाला उस ब्रह्म को ही बतलाया गया है। आगे स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं कि भोक्ता, भोग्य और उन दोनों का प्रेरक ईश्वर- इन तीनों रूपों में ब्रह्म ही वर्णित है। इसलिए यहाँ पर 'अजा' शब्द का पर्याय 'प्रधान' होने पर भी वह सांख्य मतोक्त 'प्रधान' नहीं है; वरन् परब्रह्म के आश्रित रहने वाली उसी की अभिन्न-अचिन्त्य एक शक्ति है ॥९ ॥

अब जिज्ञासा यह होती है कि यहाँ अनादि परब्रह्म की शक्ति को 'अजा' कहा गया है। यह बात कैसे मानी जाये; क्योंकि वह रूपादि से परे है और यहाँ पर अजा के तीन वर्ण-लाल, सफेद और काला कहे गये हैं ?

इसका समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—

(११६) कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोध: ॥१० ॥

सूत्रार्थ— कल्पनोपदेशात् =यहाँ 'अजा' को रूपक मानकर उसके त्रिविध रूप की कल्पना पूर्वक उपदेश किये जाने से, च = भी, मध्वादिवत् = मधु आदि के कल्पित उपदेव की भाँति, अविरोध: = किसी भी तरह का विरोध नहीं है।

व्याख्या— जिस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् (३/१/१) में रूपक की कल्पना करते हुए जो यथार्थत: मधु नहीं है, उस सूर्य में मधु की कल्पना की गई है। बृहदारण्यकोपनिषद् (५/८/१) में वाणी को धेनु न होने पर भी; वहाँ धेनु की कल्पना की गई है। इसी प्रकार से यहाँ पर भी रूपक की कल्पना की भाँति ब्रह्म की शक्तिभूता प्रकृति को 'अजा' नाम प्रदान कर उसके लाल, श्वेत और काले ये तीन रंग बतलाये गये हैं। इसलिए भी यहाँ कोई विरोध नहीं है; क्योंकि अजा का अर्थ अजन्मा ही किया गया है। प्रकृति कारणब्रह्म होने के कारण उसे अजन्मा कहा जाये, तब भी उचित नहीं है। यहाँ पर जिज्ञासु को आश्वस्त करने के लिए रूपक की कल्पना करके उल्लेख करना ठीक ही है। उक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'अजा' नाम से प्रकृति का वर्णन होने के कारण वह ब्रह्म की आश्रित है। उसका यहाँ स्वतन्त्र होना प्रमाणित नहीं होता है ॥१० ॥

उक्त प्रकरण में यह स्पष्ट किया गया है कि श्रुति में आया 'अजा' शब्द सांख्य मतोक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति वाची नहीं, वरन् ब्रह्म की स्वरूप भूता अनादि शक्ति का वाची है; लेकिन अन्यश्रुति में 'पञ्चापञ्च' यह संख्यावाची शब्द मिलता है। इससे यह धारणा होती है कि यहाँ सांख्योक्त पचीस तत्त्वों का ही समर्थन मिलता है। ऐसी अवस्था में 'अजा' शब्द भी सांख्य सम्मत मूल प्रकृति का वाची क्यों न मान लिया जाये ?' इसी आशंका का आचार्य अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(११७) न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥११ ॥

सूत्रार्थ— नानाभावात् = (क्योंकि) वह संख्या दूसरे-दूसरे अनेक भाव व्यक्त करने से, संख्योपसंग्रहात् = (श्रुति में) संख्या का ग्रहण होने से, अपि = भी, न = (वह सांख्यमतोक्त तत्त्वों की गणना) ठीक नहीं है, च = तथा, अतिरेकात् = (वहाँ) उससे अधिक का भी उल्लेख मिलता है।

व्याख्या— बृहदारण्यकोपनिषद् (४/४/१७) में उक्त प्रकरण से सम्बन्धित वर्णन इस प्रकार मिलता है-

'जिसमें पाँच पञ्चजन और आकाश भी स्थित है, उसी आत्मा को मृत्यु से परे मैं विद्वान् अमृत स्वरूप मानता हूँ।' सांख्य मतानुयायी 'पञ्चजन' का अर्थ पाँच का पाँच से गुणा करके पच्चीस जन से पच्चीस तत्त्व को ग्रहणीय मानते हैं; किन्तु ५×५ से पच्चीस मान लें, तो भी आकाश और आत्मा सहित- ये सत्ताईस तत्त्व हो जाते हैं। सांख्य के पच्चीस तत्त्वों में मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्राएँ और पुरुष बतलाये गये हैं; किन्तु पञ्च संख्या के विशेषण से जो पञ्चजन यहाँ बतलाये गये हैं, वे संख्या में प्रतिपादित तत्त्वों से पृथक् हैं। तदनन्तर पञ्चजन कहलाने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और आकाश आदि भूत जिस परब्रह्म में स्थित हैं, वे आत्मा और ब्रह्म से परे कुछ भी नहीं हैं। यहाँ सूत्र में संख्यावाची जो पञ्चपञ्च प्रयुक्त हुए हैं, इनको लेकर पच्चीस तत्त्वों की कल्पना करना ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ पर वे संख्यावाची शब्द दूसरे-दूसरे भाव को प्रकट करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त 'पञ्च-पञ्च' से पच्चीस संख्या मान लेने पर भी उक्त मंत्र (बृह०उप० ४/४/१७) में प्रयुक्त आकाश और आत्मा को लेकर सत्ताईस तत्त्व हो जाते हैं, जो सांख्यमत के अनुसार निश्चित गणना से अधिक हो जाते हैं। अत: यहाँ यही मानना उचित है कि वेद में न तो सांख्य सम्मत स्वतन्त्र 'प्रकृति' का उल्लेख है और न ही पच्चीस तत्त्वों का। जिस तरह श्वे०उ० ४/५ में 'अजा' शब्द से उस ब्रह्म की अनादि शक्ति का उल्लेख किया गया है, वैसे ही यहाँ 'पञ्च-पञ्चजना:' पदों के द्वारा ब्रह्म की पृथक् कार्य- शक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है॥११॥

उक्त प्रकरण में 'पञ्च-पञ्चजना:' पदों से किसका ग्रहण होता है? अगले सूत्र में सूत्रकार इसी जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

(११८) प्राणादयो वाक्यशेषात्॥१२॥

सूत्रार्थ— वाक्यशेषात् = बाद वाले मन्त्र में कहे हुए वाक्य से (यह प्रतीत होता है कि पञ्चजन प्राणादिक ही), प्राणादय: = प्राण और इन्द्रियाँ हैं, जो ग्रहणीय हैं।

व्याख्या— बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/१७ के पीछे कहे गये मन्त्र के बाद बृ०उ० ४/४/१८ में ऋषि कहते हैं कि जो विद्वान् उस प्राण के प्राण, चक्षु के चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र एवम् मन के भी मन को जानने वाले हैं। वे विद्वज्जन उस आदि पुराण-पुरुष परब्रह्म को जानते हैं। यहाँ मन्त्र के इस वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि पूर्व मन्त्र में '**पञ्च-पञ्चजना:**' पदों से पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि परब्रह्म की कार्यशक्तियों का ही उल्लेख प्राप्त होता है; क्योंकि उस ब्रह्म को ही उपर्युक्त (बृ०उ० ४/४/१८) मंत्र में प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र एवं मन का भी मन बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उस ब्रह्म के सम्बन्ध से ही प्राण आदि अपना-अपना कार्य करने में सक्षम होते हैं। अत: यहाँ सूत्र में उसी की शक्ति विशेष का विस्तार से विवेचन किया गया है॥१२॥

अब जिज्ञासा यह उठती है कि माध्यन्दिन शाखा वालों के पाठानुसार 'पञ्चजन' पद वाच्य प्राण आदि पाँच संभव हैं, परन्तु इस प्रकरण में काण्व शाखा वालों के मन्त्र में 'अन्न' पद का वर्णन नहीं है। वहाँ प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन- इन चार का वर्णन है; तब उस शाखानुसार 'पञ्चजना:' की क्या संगति होगी? यहाँ पर तो 'पञ्चजन' चार ही हैं, पाँच नहीं। अत: वहाँ उस ब्रह्म की पञ्चविध कार्यशक्तियों की संख्या कैसे पूर्ण होगी? इसी का समाधान आचार्य यहाँ कर रहे हैं—

(११९) ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने॥१३॥

सूत्रार्थ— एकेषाम् = एकशाखा वालों के पाठ में, अन्ने = अन्न का वर्णन, असति = न होने पर, ज्योतिषा = पूर्व वर्णित 'ज्योति के द्वारा संख्या पूर्ण की जा सकती है।'

व्याख्या— 'माध्यन्दिनी' शाखा वालों के पाठ्यक्रमानुसार यहाँ इस सूत्र में परब्रह्म परमेश्वर को 'प्राणस्य प्राणः' अर्थात् प्राण का प्राण आदि कहते हुए 'अन्न का अन्न' भी बतलाया गया है। इस कारण से अनेक पाठानुसार यहाँ पर पाँच की संख्या पूरी हो जाती है; लेकिन काण्व शाखा वालों के पाठ में 'अन्न का अन्न' का ग्रहण नहीं हुआ है। इस कारण उनके अनुसार चार का ही उल्लेख होने से पाँच की संख्या- पूर्ति में एक की कमी रह जाती है। इसलिए आचार्य कहते हैं कि काण्वशाखा के पाठ में अन्न का ग्रहण न होने से जो एक संख्या की कमी रह जाती है, उसकी पूर्ति बृ०उ० ४/४/१६ के मंत्र में वर्णित 'ज्योति' से प्राप्त करनी चाहिए। वहाँ पर उस ब्रह्म को 'ज्योति' की भी ज्योति बतलाया है। १७ वें मन्त्र का उल्लेख तो संकेतमात्र है, अतः उसमें पाँच संख्या की पूर्ति करना अनिवार्य नहीं है, तब भी सूत्रकार ने किसी भी तरह प्रसङ्गवश उठने वाली आशंका का निवारण करने हेतु यह सूत्र प्रतिपादित किया है॥१३॥

अब आशंका यह होती है कि 'श्रुति' में जगत् के कारण का विभिन्न प्रकार से उल्लेख मिलता है। कहीं सत् से और कहीं असत् से सृष्टि बतलाई गई है। जगत् की उत्पत्ति के क्रम में भी भेद मिलता है। कहीं पर आकाश का उद्‌भव पहले तो कहीं तेज का, कहीं प्राण का तो कहीं अन्य किसी का वर्णन पहले मिलता है। इस प्रकार से वर्णन में भेद होने के कारण श्रुति वचनों से यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि जगत् का कारण एक मात्र ब्रह्म ही है और सृष्टि क्रम अमुक तरह का ही है। इसी का समाधान अगले सूत्र में किया जा रहा है—

(१२०) कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१४॥

सूत्रार्थ— च = और, आकाशादिषु = आकाश आदि किसी भी क्रम से संरचित किये जाने वाले पदार्थों में, कारणत्वेन = कारण रूप से, यथाव्यपदिष्टोक्तेः = सर्वत्र एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। (अतः ब्रह्म ही एकमात्र जगत् का कारण है)।

व्याख्या— श्रुति में जगत् के कारण का उल्लेख भिन्न-भिन्न तरह से देखने को मिलता है तथा जगत् की उत्पत्ति का क्रम भी विभिन्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है; फिर भी एकमात्र ब्रह्म को ही जगत् का कारण स्वीकारने में किसी भी तरह का दोष नहीं है; क्योंकि जगत् के अन्य कारण जो आकाशादि बतलाये गये हैं, उनका भी परम कारण ब्रह्म को ही कहा गया है। इस प्रतिपादन से ब्रह्म की कारणता पुष्ट होती है और अन्य किसी कारण से नहीं। जगत् की उत्पत्ति में क्रमिक जो भेद आता है, वह निम्नवत् है- कहीं पर '**आत्मनः आकाशः सम्भूतः**' (तैत्ति०उ० २/१) श्रुति के द्वारा आकाश आदि के क्रम से सृष्टि का उद्‌भव विकास कहा गया है। तो कहीं छा० उ० ६/२/३ के **तत्तेजोऽसृजत .....** मन्त्र के द्वारा तेज आदि के क्रम से सृष्टि का वर्णन मिलता है। कहीं प्र०उ० ६/४ के '**स प्राणमसृजत**' ...... के द्वारा प्राण आदि के क्रम से सृष्टि का उल्लेख प्राप्त होता है तथा कहीं पर ऐ०उ० १/१/२ के '**स इमाँल्लोकानसृजत**' ...... वाक्यों के द्वारा बिना किसी सुव्यवस्थित क्रम के ही सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार से सृष्टि के क्रमिक वर्णन में भेद होने से किसी भी तरह के दोष की बात नहीं है; वरन् इस तरह से विचित्र रचना के वर्णन में तो ब्रह्म का महत्त्व ही प्रतिपादित होता है। कल्प भेद से ऐसा होना उचित भी है। इस कारण से एक मात्र ब्रह्म को ही जगत् का कारण मानना उचित है॥१४॥

अब आशङ्का यह उठती है कि उपनिषदों अर्थात् तै०उ० २/७ में कहीं पर तो यह वर्णन मिलता है कि 'सर्वप्रथम एकमात्र असत् ही था, कहीं अर्थात् छा०उ० ६/२/१ में यह वर्णन मिलता है कि 'सर्वप्रथम एकमात्र सत् ही था' और कहीं बृह० उप० १/४/७ में 'सर्वप्रथम अव्याकृत था' ऐसा वर्णन मिलता है। उक्त 'असत्' आदि शब्द ब्रह्मवाची कैसे हो सकते हैं? इसी का समाधान अगले सूत्र में आचार्य करते हैं—

(१२१) समाकर्षात् ॥१५॥

सूत्रार्थ— समाकर्षात् = आगे-पीछे कहे हुए वाक्य का सम्यक् रूप से आकर्षण करके या मन्थन करके सम्बन्ध स्थापित कर लेने से ('असत्') आदि शब्द भी ब्रह्म के ही वाचक सिद्ध होते हैं।

व्याख्या— तैत्ति०उ० २/७ में वर्णन आता है कि 'पहले यह(ब्रह्म) असत् ही था, इसी से सत् का उद्‌भव हुआ।' यहाँ 'असत्' शब्द अभाव या मिथ्यावाची नहीं है; क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रथम अनुवाक में ब्रह्म का स्वरूप कहते हुए ऋषि ने उस (ब्रह्म) को सत्य, ज्ञान एवं अनन्त कहकर संबोधित किया है। पुन: उसी से आकाश आदि के क्रम से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति बतलायी है। तत्पश्चात् तैत्ति० के ६ वें अनुवाक में **'सोऽकामयत्'** के 'स' पद से उसी पूर्वानुवाक में वर्णित ब्रह्म का आकर्षण किया है। अन्त में कहा है कि 'यह जो कुछ है', वही सत्य स्वरूप ब्रह्म है। इसके बाद इसी विषय में सातवें अनुवाक में 'असद् व इदमग्र आसीत्' अर्थात्- सृष्टि संरचना से पूर्व यह जगत् 'असत्' अर्थात् अव्यक्त नाम-रूप वाला ब्रह्म ही था। इस प्रकार पूर्वापर प्रसङ्ग को देखते हुए इस मन्त्र में वर्णित 'असत्' शब्द मिथ्या या अभाववाची सिद्ध नहीं होता। वहाँ पर 'असत्' का अर्थ अप्रकट 'ब्रह्म' एवं उससे होने वाले 'सत्' का अर्थ जगत् रूप में 'प्रकट ब्रह्म' ही होगा। अत: यहाँ अर्थान्तर की कल्पना आवश्यक नहीं है। छा० उ० ३/१९/१ में कहा गया है- 'आदित्य ब्रह्म है, यह उपदेश है, उसी का विस्तार है। पहले यह असत् ही था, आदि।

यहाँ पर भी तैत्तिरीय की भाँति 'असत्' शब्द अप्रकट ब्रह्म का ही वाची है; क्योंकि इसी मंत्र के अगले वाक्य में 'तत्सदासीत्' कहकर 'सत्' नाम से भी उल्लेख मिलता है। बृह०उ० १/४/७ में स्पष्ट रूप से ही 'असत्' की जगह 'अव्याकृत' शब्द का उल्लेख मिलता है, जो कि (अप्रकट) का ही पर्याय है। अत: सभी स्थलों में पूर्वापर के प्रसङ्ग में वर्णित शब्दों या वाक्यों का आकर्षण या मन्थन करके अन्वय करने पर यही निश्चय होता है कि जगत् के कारण रूप में अलग-अलग नामों से उस ब्रह्म का ही उल्लेख किया गया है और अन्य किसी का नहीं। उक्त प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि 'सत्' और 'असत्' दोनों ही ब्रह्म के वाचक हैं और वही ब्रह्म इस जगत् की उत्पत्ति का परम कारण है॥१५॥

ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है, जड़ प्रकृति जगत् का कारण कदापि नहीं हो सकती। यही प्रतिपादित करने के लिए आचार्य कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के प्रसङ्ग पर चर्चा करते हुए समाधान कर रहे हैं—

(१२२) जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थ— जगद्वाचित्वात् = जड़ - चेतनात्मक जगत् का वाची होने के कारण ब्रह्म ही जगत् का कर्त्ता है, जड़ प्रकृति नहीं।

व्याख्या— कौषीतकि ब्रा०उ० में राजा अजातशत्रु और बालाकि के संवाद का वर्णन आता है। वहाँ (कौ०ब्रा० उ० ४/२) बालाकि कहते हैं- 'जो आदित्य में यह पुरुष स्थित है, मैं उसकी उपासना करता हूँ।' अन्त में ४/१७ में कहते हैं- 'जो यह बायी आँख में पुरुष स्थित है, उसकी मैं उपासना करता हूँ।' यहाँ तक क्रमानुसार सोलह पुरुषों की उपासना करने वाला अपने को कहा है; किन्तु उसकी हर बात को अजातशत्रु ने काट दिया। तदनन्तर वह मौन हो गया। पुन: अजातशत्रु ने कहा- हे बालाके! तुम ब्रह्म को नहीं जानते हो, अत: हम तुम्हें उस ब्रह्म का उपदेश देते हैं। तुम्हारे द्वारा कहे हुए सोलह पुरुषों का जो कर्त्ता है, जिसके ये सभी कर्म हैं, वही जानने योग्य है। इस प्रकार से वहाँ पुरुषवाची जीव और उनके अधिष्ठानभूत जड़ शरीर दोनों को ही ब्रह्म का कर्म कहा गया है; अत: कर्म अथवा कार्य शब्द से जानी जाने वाली जड़ प्रकृति इस जगत् का कारण नहीं हो सकती। एकमात्र ब्रह्म ही इस जगत् का उपादान कारण है॥१६॥

उक्त प्रकरण में 'ज्ञेय' रूप में प्रतिपादित तत्त्व प्राण अथवा जीव नहीं;वरन् वह एकमात्र ब्रह्म ही है। इसी की पुष्टि हेतु आचार्य अगले सूत्र में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं—

(१२३) जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम्॥१७॥

सूत्रार्थ— चेत् इति = यदि ऐसा कहा जाये कि, जीवमुख्यप्राणलिङ्गात् = जीवन और मुख्य प्राण का बोध कराने वाले लक्षण भी (उस प्रसंग में) मिलते हैं अतः, न = (ब्रह्म वहाँ जानने योग्य) नहीं है, तद् व्याख्यातम् = (तो) इसका समाधान पूर्व में ही किया जा चुका है।

व्याख्या— यदि यह कहा जाये कि 'यहाँ जीव और मुख्य प्राण के सूचक लक्षणों का स्पष्ट रूप से वर्णन होने के कारण प्राणों के सहित उसका अधिष्ठाता जीव ही जगत् का कर्त्ता एवं जानने योग्य बतलाया गया है, ब्रह्म कर्त्ता व जानने योग्य नहीं है।' तो यहाँ ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है; क्योंकि इस आशङ्का का समाधान पहले ही (सूत्र क्र० १/१/३ में) किया जा चुका है। वहाँ पर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्रह्म समस्त धर्मों का आश्रय है। इसलिए जीव एवं प्राण के धर्मों (लक्षणों) की संगति नहीं हो सकती। यदि जीव आदि को जानने योग्य तत्त्व मान भी लें, तो त्रिविध उपासना का प्रसङ्ग उपस्थित हो सकता है, जो सर्वथा अनुचित है॥१७॥

उक्त प्रकरण के सन्दर्भ में सूत्रकार अगले सूत्र में आचार्य की सम्मति बतला रहे हैं—

(१२४) अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके॥१८॥

सूत्रार्थ— जैमिनिः = आचार्य जैमिनि, तु = तो, अन्यार्थम् = (इस प्रकरण में) जीव और मुख्य प्राण का वर्णन होना दूसरे ही प्रयोजन से स्वीकारते हैं, प्रश्नव्याख्यानाभ्याम् = क्योंकि प्रश्न और उसके उत्तर (समाधान) से यही पुष्ट होता है; च = तथा, एके = एक (काण्व) शाखा वाले, अपि = भी, एवम् = ऐसा ही कहते हैं।

व्याख्या— उक्त प्रकरण में आचार्य जैमिनि जीव और मुख्य प्राण को जगत् का उपादान कारण सिद्ध करने वाला नहीं स्वीकारते। वे इस वर्णन का दूसरा ही प्रयोजन बतलाते हुए जीव और मुख्य प्राण का परब्रह्म परमात्मा में विलय होना कहकर जगत् का कारण परब्रह्म को ही पुष्ट करना स्वीकारते हैं; क्योंकि सुषुप्ति काल में सभी का परब्रह्म में विलीन होना तथा सृष्टि रचनाकाल में पुनः उसी परब्रह्म से उत्पन्न होना, ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त एक (काण्व) शाखा वालों ने तो इस प्रकरण को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है।

बृह० उ० २/१/१७ के अन्तर्गत अजातशत्रु ने कहा है कि 'यह विज्ञानमय पुरुष (जीव) जब सुषुप्ति-काल में अवस्थित था, तब इस बुद्धि के साथ प्रमुख प्राणों एवं समस्त इन्द्रियों के स्वभाव को लेकर उस आकाश में शयन कर रहा था, जो मस्तिष्कगत हृदय के मध्य स्थित है। उस समय उसे 'स्वपिति' के नाम से जाना जाता है। यहाँ इस प्रसङ्ग में आया हुआ 'आकाश' शब्द परब्रह्म का वाचक है। इसलिए यहाँ यह पुष्ट होता है कि सुषुप्ति के उदाहरण से यह तथ्य बतलाया गया है कि जिस प्रकार यह जीव निद्राकाल में मुख्य प्राण के साथ ब्रह्म में लय-सा हो जाता है, वैसे ही प्रलय काल में यह जड़चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में लय हो जाता है और सर्गकाल में पुनः जाग्रत् के सदृश उत्पन्न हो जाता है॥१८॥

अगले सूत्र में आचार्य जैमिनि अपने मत की पुष्टि के लिए एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं-

(१२५) वाक्यान्वयात्॥१९॥

सूत्रार्थ— वाक्यान्वयात् = पूर्वापर वाक्यों के अन्वय से अर्थात् विश्लेषण से (सिद्ध होता है कि उक्त प्रकरण में आये हुए जीव और मुख्य प्राण के लक्षणों का प्रयोग दूसरे ही प्रयोजन से कहे गये हैं)।

व्याख्या— उपर्युक्त प्रकरण के आरम्भ में कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् ४/१८ में परब्रह्म परमात्मा को जानने

योग्य बतलाकर अन्त में कौ०ब्रा०उ० ४/२० में उसी ब्रह्म के ज्ञाता की महान् महिमा का उल्लेख प्रतिपादित किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य जी मैत्रेयी को उपदेश प्रदान करते हुए कहते हैं कि 'सभी के कार्य हेतु सभी लोग प्रिय नहीं होते; लेकिन आत्मा के लिए सभी समान रूप से प्रिय होते हैं। अत: उसी आत्मा के श्रवण, मनन, एवं निदिध्यासन का सतत अभ्यास करते रहना चाहिए।'

यहाँ सूत्र में 'आत्मा' शब्द ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है या जीव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ? इस आशंका का समाधान करते हुए आचार्य यह कहते हैं कि पूर्व में कहे हुए की संगति एवं विश्लेषण से यहाँ सूत्र में सभी शब्दों का समन्वय ब्रह्म में होता है, जीवात्मा और मुख्य प्राण में नहीं अर्थात् पूर्वापर के वाक्यों का समन्वय करने से यही पुष्ट होता है कि बीच में आया हुआ जीव और मुख्य प्राण का वर्णन भी उस परब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण सिद्ध करने के लिए ही है॥१९॥

अगले सूत्र में आचार्य इसी विषय के सम्बन्ध में आचार्य आश्मरथ्य का विचार प्रस्तुत करते हैं—

(१२६) प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्य: ॥२०॥

सूत्रार्थ— लिङ्गम् = उपर्युक्त प्रकरण में जीव और मुख्य प्राण के लक्षणों का समन्वय ब्रह्म को ही जगत् का कारण सिद्ध करने के लिए हुआ है, प्रतिज्ञासिद्धे: = क्योंकि ऐसा मानने से पूर्व की हुई प्रतिज्ञा की सिद्धि होती है, इति = ऐसा, आश्मरथ्य: = आश्मरथ्य आचार्य कहते हैं।

व्याख्या— आचार्य आश्मरथ्य का कथन है कि अजातशत्रु ने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि **'ब्रह्म ते ब्रवाणि'** अर्थात् - 'तुम्हें ब्रह्म का स्वरूप बतलाऊँगा।' उसकी पुष्टि ब्रह्म को ही जगत् का उपादान कारण स्वीकार करने से हो सकती है। अत: उक्त प्रकरण में जो जीव एवं मुख्य प्राण के लक्षण का उल्लेख मिलता है। वह इसी तथ्य को प्रमाणित करने के लिए है कि परब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है । मुण्डकोपनिषद् (२/१/१) में वर्णन मिलता है- **'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगा: सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा:। तथाऽक्षराद्विविधा: सोम्य भावा: प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति'** अर्थात्- जिस प्रकार अग्नि के समान सहस्रों चिनगारियाँ प्रकट होती हैं, वैसे ही उस अक्षर रूप ब्रह्म से अनेक प्रकार के भाव प्रकट होते हैं, और उसमें ही विलीन भी हो जाते हैं। इससे भी जगत् का उपादान कारण ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

'आत्म-विज्ञान' से सर्व विज्ञान की सिद्धि आत्मतत्त्व का परमात्मतत्त्व में सिद्ध होने का ही धर्म (लक्षण) है। मैत्रेयी जब मोक्ष का उपाय जानना चाहती हैं, तब ऋषि ने उसे क्या जीव का उपदेश दिया होगा? जीव के उपदेश से मुक्ति मिलना असंभव है, वह तो ब्रह्म के ज्ञान से ही सम्भव है। अत: आश्मरथ्य भी ब्रह्म को ही जगत् का कारण मानते हैं॥२०॥

अगले सूत्र में इसी विषय के सम्बंध में सूत्रकार आचार्य औडुलोमि का मत प्रस्तुत करते हैं—

(१२७) उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमि: ॥२१॥

सूत्रार्थ— उत्क्रमिष्यत: = देह का परित्याग कर परलोक में गमन करने वाले ब्रह्मज्ञानी का, एवं = इस प्रकार, भावात् = परमात्म भाव होने अर्थात् परमात्मा में विलय होना (जैसा कि अन्य श्रुतियों में भी कहा गया) है इसलिए, (यहाँ पर जीव और मुख्य प्राण का वर्णन, परमात्मा को ही जगत् का कारण बतलाने के लिए है), इति = ऐसा ही, औडुलोमि: = आचार्य औडुलोमि का मत है।

व्याख्या— ब्रह्मज्ञानी मनुष्य देह परित्याग के पश्चात् जब परलोक के लिए प्रस्थान करता है और वहाँ पहुँचकर परमात्मवत् हो जाता है, तब उस अवस्था में 'जीव' वाची शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण होता है, ऐसा आचार्य औडुलोमि का कथन है। ऐसे ही देह का त्याग कर ब्रह्मलोक में गमन करने वाले ब्रह्मज्ञानी की

गति का उल्लेख मुण्डक उपनिषद् (३/२/७-८) में इस प्रकार मिलता है- 'जब ब्रह्मज्ञानी देह का त्याग करता है, तब पन्द्रह कलाएँ और समस्त देवगण अपने-अपने कारणभूत देवों में अवस्थित हो जाते हैं, तदनन्तर सभी कर्म एवं विज्ञानमय जीवात्मा ये सभी परम अविनाशी ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। जिस तरह प्रवाहित नदियाँ अपने नाम-रूप का त्यागकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी तरह विद्वान्, ज्ञानी, महात्मा नाम-रूप से परे रहकर सर्वश्रेष्ठ दिव्य परम पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि उक्त प्रकरण में जीव और प्रमुख प्राण का वर्णन हुआ है, वह समस्त जगत् के उद्भव और प्रलय का कारण एकमात्र ब्रह्म को बतलाने के लिए ही है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं॥२१॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार आचार्य काशकृत्स्न का मत प्रस्तुत करते हैं—

(१२८) अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः॥२२॥

सूत्रार्थ— अवस्थितेः = प्रलय के समय में सम्पूर्ण जगत् की स्थिति उस ब्रह्म में ही होती है, अतः (उक्त प्रकरण में जीव और मुख्य प्राण का वर्णन ब्रह्म को जगत् का कारण सिद्ध करने के लिए ही है।), इति = ऐसा ही, काशकृत्स्नः = काशकृत्स्न आचार्य का कथन है।

व्याख्या— आचार्य काशकृत्स्न का कथन है कि प्रलयकाल के समय समस्त जगत् की स्थिति परब्रह्म परमात्मा में ही अवस्थित कही गयी है। प्र०उ० ४/११ में भी कहा गया है -

'विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति।

'जिस अविनाशी ब्रह्म में सभी देवगण, सभी प्राण और सभी भूत सम्यक् रूप से अवस्थित होते हैं, उसे जानने वाला सर्वज्ञाता भी उसी ब्रह्म में लय हो जाता है', इससे भी पुष्ट होता है कि उक्त प्रकरण में जो सुषुप्ति काल में प्राण और जीव का ब्रह्म में विलय होना कहा गया है, वह यह सिद्ध करने के लिए कि एक-मात्र ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण जगत् का उपादान-कारण है और अन्त में यह सृष्टि- जीव और प्रमुख प्राणी उसी अविनाशी ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। जीव और ब्रह्म की सह-स्थिति निश्चित है। ये दोनों ही तत्त्व नित्य हैं, आत्म तत्त्व दोनों में एक जैसा है। ऐसी स्थिति के कारण शरीर में ब्रह्म प्रवेश का उल्लेख ऐ०उ०(१/३/११) के प्रसंग में हुआ है। अतः ब्रह्म को जीव का लक्षण नहीं समझना चाहिए , यही काशकृत्स्न का कथन है॥२२॥

वेदों-श्रुतियों में 'शक्ति', 'अजा', 'माया' एवं 'प्रधान' आदि नामों से जिसका उल्लेख किया गया है, उसी को ब्रह्म की अध्यक्षता में जगत् का कारण कहा गया है। गीता आदि स्मृति-ग्रन्थों में भी ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जगत् का कारण अर्थात् नियामक, रचयिता, अधिष्ठाता, संचालक तो निश्चित ही ब्रह्म है; किन्तु उपादान कारण 'प्रकृति' और 'माया' नाम से कहा हुआ 'प्रधान' ही है। यदि ऐसा मानें, तो क्या आपत्ति है? अगले सूत्र में इसे स्पष्ट किया गया है—

(१२९) प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥२३॥

सूत्रार्थ— प्रकृतिः = उपादान कारण, च = और (निमित्त कारण ब्रह्म ही है), प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् = क्योंकि ऐसा मानने से श्रुति प्रतिपादित 'प्रतिज्ञा' और 'दृष्टान्त' के अनुरोध से ब्रह्म ही उपादान और निमित्त कारण सिद्ध होता है।

व्याख्या— छा०उ० ६/१/२-३ के अन्तर्गत श्वेतकेतु के उपाख्यान में उनके पिता ने उनसे पूछा कि 'क्या तुमने अपने गुरु से उस श्रेष्ठ तत्त्व के उपदेश की भी जिज्ञासा की है, जिसके जानने से अनसुना सुना हुआ हो

जाता है, बिना मनन किया हुआ मनन किया हुआ हो जाता है और बिना जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है, यह सुनकर श्वेतकेतु ने पूछा- भगवन्! वह उपदेश कैसा है, तदनन्तर उनके पिता ने दृष्टान्त देते हुए छा०उ० (६/१/४) में कहा- 'जिस तरह मिट्टी के ढेले का तत्त्व जान लेने पर मिट्टी से निर्मित सभी वस्तुएँ जानी हुई हो जाती हैं, कि' 'यह सब मिट्टी है।' तत्पश्चात् आरुणि ने इसी तरह स्वर्ण और लोहे का भी दृष्टान्त दिया है। यहाँ पर पहले जो प्रश्न किया गया, वह तो प्रतिज्ञा-वाक्य है और मिट्टी आदि का जो उदाहरण कहा गया, वह दृष्टान्त वाक्य है। यदि परब्रह्म से पृथक् 'प्रधान' को यहाँ उपादान कारण मान लें, तो उसके एक अंश को जानने पर 'प्रधान' की ही जानकारी होगी, ब्रह्म की नहीं, किन्तु वहाँ पर ब्रह्म की जानकारी कराना आवश्यक है, अत: प्रतिज्ञा और दृष्टान्त की सार्थकता भी जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म को स्वीकारने से ही हो सकता है। मुण्डको० (१/१/२ एवं १/१/७), बृह०उ० (४/५/६,८) श्वेता०उ० ६/८ में भी ऐसा ही 'प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के वाक्य प्राप्त होते हैं। उक्त सभी स्थलों में भी उनकी सार्थकता पूर्ववत् ब्रह्म को जगत् का कारण मानने से ही हो सकती है, यही मान लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त गीता में गीताकार ने अ० ९/१० में जड़-प्रकृति को सांख्य की भाँति जगत् का कारण नहीं माना; वरन् अपनी अध्यक्षता में अपनी ही स्वरूप भूता प्रकृति को चराचर जगत् की सर्जना करने वाली कहा है।' 'जड़-प्रकृति जड़ और चेतन दोनों का निमित्त कारण किसी भी तरह नहीं हो सकता। अत: इस क्रम में प्रकृति को प्रभु की स्वरूप भूता शक्ति ही माननी चाहिए। इसके अलावा ७ वें अध्याय के चौथे से लेकर सातवें तक के श्लोक में यह कहा है- ' परा और अपरा दो प्रकृतियों का वर्णन कर अपने को समस्त जड़-चेतनात्मक जगत् का प्रभाव और प्रलय बतलाते हुए सभी को महाकारण कहा है। अत: श्रुति और स्मृति के उक्त प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म ही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है॥२३॥

उक्त तथ्य को स्पष्ट करने के लिए अगले सूत्र में सूत्रकार पुन: और भी कारण देते हुए कहते हैं कि —

(१३०) अभिध्योपदेशाच्च॥२४॥

सूत्रार्थ— अभिध्योपदेशात् = अभिध्य-चिन्तन अर्थात् संकल्प पूर्वक सृष्टि-रचना का श्रुति में उपदेश होने से, च = भी (जगत् का) उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म ही सिद्ध होता है।

व्याख्या— श्रुतियों-वेदों में जहाँ-जहाँ भी सृष्टि-सर्जना के संकल्प का वर्णन आता है, वहाँ पर परमात्मा के एक से अनेक होने के प्रमाण स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं- तैत्ति०उप० के २/६ ' में ऐसा ही वर्णन इस प्रकार मिलता है-'**सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय**' अर्थात्- उसने संकल्प किया कि मैं एक से बहुत (अनेक) हो जाऊँ। ऐसा ही उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् ६/२/३ में भी मिलता है, देखें- '**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय**' अर्थात्- उसने संकल्प इच्छा की, कि मैं बहुत हो जाऊँ, विभिन्न रूपों में प्रकट हो जाऊँ। इस प्रकार से स्वयं को ही विभिन्न रूपों में प्रकट करने का संकल्प लेकर सृष्टि सृजेता परब्रह्म की सृष्टि सर्जना में संलग्न रहने का उल्लेख वेदों में मिलता है। इससे भी यही पुष्ट होता है कि परब्रह्म ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है। इसके अतिरिक्त छा०उ० ३/१४/२ में यह भी वर्णन मिलता है-'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।**' अर्थात्- 'अवश्य ही यह सब कुछ ब्रह्म है, क्योंकि उसी से उद्भव होता है, उसी में अवस्थित रहता है और अन्त में उसी में विलय हो जाता है। इस प्रकार शान्त चित्त होकर उपासना अर्थात् चिन्तन-मनन करे।' इन प्रमाणों से भी स्पष्ट हो जाता है कि जगत् का उपादान और निमित्त कारण एकमात्र ब्रह्म ही है॥२४॥

उपर्युक्त मत की पुष्टि के लिए अगले सूत्र में आचार्य और भी स्पष्ट करते हैं—

(१३१) साक्षाच्चोभयाम्नानात्॥२५॥

सूत्रार्थ— साक्षात् = श्रुति साक्षात् अपने वचनों से, च = भी, उभयाम्नानात् = ब्रह्म के उभय-दोनों (उपादान और निमित्त) कारण होने की बात कही गई है। इससे भी (ब्रह्म ही उपादान कारण सिद्ध होता है, प्रकृति नहीं)।

व्याख्या— श्वेताश्वतरोपनिषद् (१/१-२) में ऐसा उल्लेख मिलता है- एक बार कुछ महर्षिगण विचार-विमर्श करने हेतु एकत्रित हुए कि इस जगत् का कारण कौन है? हम किसके द्वारा प्रादुर्भूत हुए हैं? किसके द्वारा जीवनयापन हो रहा है? हमारी स्थिति कहाँ है? हमारा एक मात्र रक्षक कौन है? हममें नियम पूर्वक सुख-दु:ख में कौन नियुक्त करता है? उन समस्त ऋषियों ने आपस में विचार करते हुए सोचा। उनमें से किसी ने काल को, किसी ने वृत्ति को, किसी ने कर्म को, किसी ने होनहार को, किसी ने पञ्च महाभूतों को और किसी ने उनके समुदाय को कारण माना। इनमें से उचित कारण कौन है, ऐसा आपस में निश्चय करने लगे। तदनन्तर उन सभी के मन में यह विचार आया कि इनमें से एक अथवा इनका समूह जगत् का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वह सुख-दु:ख का भोक्ता और पराधीन है। इसके अनन्तर उन्होंने ध्यान में स्थित होकर अपने गुणों से गुह्य उस अविनाशी ब्रह्म की आधारभूता शक्ति का 'कारण रूप में' दर्शन किया, जो ब्रह्म एकाकी ही पूर्वोक्त काल से लेकर आत्मा तक सभी कारणों पर शासन करता है।

उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट रूप से उस अविनाशी ब्रह्म को ही सबका उपादान और निमित्त कारण कहा है। इसके अतिरिक्त श्वेता० २/१६ में तथा दूसरे अन्य श्रुतियों-उपनिषदों में भी यत्र-तत्र स्थान-स्थान पर उस ब्रह्म को ही सर्वरूप बतलाया है। इससे भी प्रमाणित हो जाता है कि वह परब्रह्म ही इस जगत् का उपादान और निमित्त कारण है॥२५॥

अब अगले सूत्र में उक्त तथ्य की सिद्धि हेतु आचार्य एक अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं —

(१३२) आत्मकृतेः॥२६॥

सूत्रार्थ— आत्मकृतेः = अपने को स्वयं के द्वारा जगत् रूप में प्रकट करने का वर्णन होने से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म को किसी ने प्रकट नहीं किया, वही सबका (जगत् का) कारण है।

व्याख्या— तैत्तिरीयोपनिषद् की द्वितीय (ब्रह्मानन्द) वल्ली के सातवें अनुवाक के प्रारम्भ में ब्रह्म के स्वयं प्रकट होने का उल्लेख इस प्रकार मिलता है- '**असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानः स्वयमकुरुत**'....(तैत्ति०२/७) अर्थात्- प्रकट होने से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् असत् (अव्यक्त) रूप में था। उससे ही यह दृश्यमान जगत् प्रकट हुआ है। उस परब्रह्म परमात्मा ने स्वयं ही अपने को जगद्रूप में प्रकट किया है।' इस प्रकार से कर्त्ता और कर्म के रूप में उस एक ही परब्रह्म का उल्लेख होने से स्पष्ट रूप से उपनिषद् का यह कथन सिद्ध हो जाता है कि परब्रह्म ही इस जगत् का एकमात्र निमित्त और उपादान कारण है। कुछ व्याख्याकार तैत्ति० २/७ के '**तदात्मानः स्वयमकुरुत**' इस वाक्य में 'आत्मा' पद का अर्थ 'शरीर' बतलाते हैं। लौकिक कोष में 'आत्मा' पद का यह अर्थ देखने को मिलता है। प्रकृति को ब्रह्म के देह रूप में कल्पित किया गया है। तदनुसार उक्त वाक्यांश का अर्थ इस प्रकार किया है- वह ब्रह्म देह रूप से कल्पित प्रकृति के बिना किसी अन्य कर्त्ता के सहयोग से जगत् रूप में परिणत करता है। इसी भाव को प्रस्तुत सूत्र द्वारा भी व्यक्त किया गया है अत: जिसका परिणाम होता है, वह उपादान कारण निश्चित है, जो परिणत करने वाला है, वह ब्रह्म निमित्त कारण होगा॥२६॥

यहाँ जिज्ञासा उठती है कि परमात्मा तो पूर्व से ही नित्य कर्त्ता रूप में अवस्थित है, वह कर्म कैसे हो सकता है? आचार्य अगले सूत्र में इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(१३३) परिणामात् *॥२७॥

सूत्रार्थ— परिणामात् = वेद में उसके जगत् रूप में परिणत होने का उल्लेख होने से यही मानें कि वह ब्रह्म ही इस जगत् का कर्त्ता है और स्वयमेव इस रूप में परिणत हुआ है।

व्याख्या— ब्रह्म के समस्त रूपों में परिणत होने का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् २/६ में इस प्रकार मिलता है- उस जगत् की सर्जना करने के बाद वह ब्रह्म स्वयं उस जीव के साथ-साथ समाहित हो गया। उसमें समाहित होकर वह स्वयं ही मूर्त्त और अमूर्त्त भी हो गया। कहने में आने वाले और न आने वाले,आश्रय देने वाले और न देने वाले तथा चेतन और जड़, सत्य और असत्य-इन सभी के रूप में सत्यस्वरूप ब्रह्म ही हो गया। जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है और जो अनुभव में आता है, वह सत्यरूप ब्रह्म ही है, ऐसा मनीषियों का कथन है। इस प्रकार से उक्त श्रुति में ब्रह्म के ही समस्त रूपों में परिणत होने का विवेचन किया गया है। अत: वह(ब्रह्म) ही इस जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है। परिणाम को यहाँ विकार के अर्थ में नहीं लिया गया है। जिस प्रकार सूर्यदेव अपनी अनन्त रश्मियों का चतुर्दिक् प्रसारण करते हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा भी अपनी अनन्त, अचिन्त्य, विकाररहित शक्तियों का निक्षेपण करते हैं, उनके इस शक्ति निक्षेपण से ही विचित्र जगत् का उद्भव स्वयमेव होने लगता है। अत: यहाँ पर यही मानना चाहिए कि निर्विकार एक रस ब्रह्म अपने स्वरूप से अच्युत और अविकृत रहते हुए ही अपनी अचिन्त्य शक्तियों से जगत् के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए उनका कर्त्ता और कर्म अर्थात् उपादान और निमित्त कारण होना सर्वथा उपयुक्त है॥२७॥

उपर्युक्त तथ्य के समर्थन में अगले सूत्र में आचार्य एक अन्य हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१३४) योनिश्च हि गीयते॥२८॥

सूत्रार्थ— हि = क्योंकि, योनि: = (वेदान्त में ब्रह्म को) योनि, च = भी, गीयते = कहा गया है॥ (अत: ब्रह्म ही एकमात्र निमित्त और उपादान कारण है।)

व्याख्या— श्रुति में 'योनि' का अर्थ उपादान कारण बतलाया गया है। उपनिषदों के अन्तर्गत यत्र-तत्र अनेकों स्थलों पर ब्रह्म को ही 'योनि' के नाम से सम्बोधित किया गया है। उदाहरण के लिए मुण्डकोपनिषद् ३/१/३ का उद्धरण देखें- **'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'** अर्थात् 'जो समस्त प्राणियों का कर्त्ता, शासक और ब्रह्मा जी की भी योनि अर्थात् उपादान कारण स्वरूप परम पुरुष को देखता है'। ऐसा ही उल्लेख मुण्ड० १/१/६ में मिलता है- **'यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा:'** अर्थात् 'उन समस्त प्राणियों की योनि (उपादान कारण) को ज्ञानीजन सर्वत्र सम्यक् रूप से देखते हैं। यहाँ ब्रह्म (परम पुरुष) को ही कर्त्ता और योनि रूप से संबोधित किया गया है। जो 'कारण' (जैसे मिट्टी) 'कार्य' (जैसे घट) रूप में परिणत होता है, वह उपादान कारण तथा जिस कार्य (घट निर्माण) में जो चैतन्य स्वरूप स्थिति में साधन (जैसे कुम्भकार) होता है, वह निमित्त कारण कहा जाता है। यहाँ ब्रह्म ने स्वयं ही अपने को जगत् रूप में परिणत किया। अत: उपादान कारक और निमित्त कारक दोनों ही कारण वही (ब्रह्म) सिद्ध होता है, प्रकृति या माया नहीं। व्यास जी ने भी **'शास्त्रयोनित्वात्'** कहकर ब्रह्म को ही शास्त्र का उत्पत्तिकर्त्ता (योनि) संबोधित किया है॥२८॥

अपने मत की प्रतिष्ठा एवं अपने से विपरीत मतों का खण्डन करने के बाद इस अध्याय और प्रकरण का उपसंहार कर अन्तिम सूत्र में आचार्य कहते हैं कि समस्त वादियों का समाधान कर दिया गया है—

---

* वेदान्त के कई ग्रन्थों में इस सूत्र को इसके पूर्व सूत्र 'आत्मकृते:' के साथ जोड़ कर छापा गया है, परन्तु तथ्य की स्पष्टता के लिए कई ग्रन्थों में इसे अलग सूत्र माना गया है। यहाँ भी इसे इसी रूप में (अलग रूप में) स्वीकार किया गया है।

(१३५) एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२९ ॥

सूत्रार्थ— एतेन = इस प्रकार विवेचन करने से, सर्वे = सभी, व्याख्याताः = प्रतिवादियों की जिज्ञासा का प्रतिपादन कर समाधान कर दिया गया, व्याख्याताः = समाधान कर दिया गया।

व्याख्या— इस प्रकार विवेचन पूर्वक यह प्रतिपादित कर दिया गया कि एकमात्र 'ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है, सांख्यमत प्रतिपादित प्रधान-जड़ प्रकृति नहीं।' सम्पूर्ण जगत् का उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। इस विवेचन के द्वारा परमाणु कारण वादी नैयायिक आदि के मतों का भी निस्तारण कर दिया गया है। ऐसा आचार्य स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं। सूत्र में 'व्याख्याता' शब्द का दो बार प्रयोग अध्याय समाप्ति का सूचक है। साथ ही यह भी अभिप्राय है कि अब अधिक प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं रही॥२९ ॥

॥ इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

ग्रन्थ के शुभारम्भ में ब्रह्म की जिज्ञासा का कथन कर प्रथम अध्याय में अनेक धर्म शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु यह कहा गया कि जगत् की उत्पत्ति का आदि कारण ब्रह्म ही है, जिस प्रकार चित्र का कारण चित्रकार तथा घट का कारण कुम्भकार होता है। ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् का नियन्ता है। जगत् की स्थिति एवं समयानुसार उसके उपादान कारण में लय का निमित्त कारण भी वही है, इस बात को लेकर श्रुतियों में कोई मतभेद नहीं है। अब इस 'अविरोध' नामक दूसरे अध्याय का आरम्भ यह सिद्ध करने के लिए किया जा रहा है कि श्रुतियों का न तो स्मृतियों से कोई विरोध है और न ही आपस में एक श्रुति का दूसरी श्रुति से विरोध है।

सर्वप्रथम स्मृति विषयक शंका उपस्थित करके सूत्रकार उसका समाधान करते हैं—

(१३६) स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥१ ॥

सूत्रार्थ— चेत् इति = यदि ऐसा कहो कि, स्मृत्यनवकाश-दोष प्रसङ्गः = जड़ प्रकृति को जगत् का कारण न मानने से सांख्य स्मृति को अमान्य करने का दोष उपस्थित होगा, न = यह कहना उपयुक्त नहीं; क्योंकि, अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् = उसको मान लेने पर दूसरी स्मृतियों को न मानने का दोष उपस्थित होगा।

व्याख्या— इस सूत्र पर विचार करने से पूर्व सांख्यस्मृति को समझ लेना आवश्यक है। कपिल मुनि ने वेदोक्त कर्मकाण्डों को पूर्णतः स्वीकार किया है और ज्ञान-काण्ड के विवेचन 'सांख्य स्मृति (शास्त्र)' की उन्होंने रचना की है। सांख्य में जगत् के जन्मादि का कारण उन्होंने जड़ प्रकृति को बताया है। जबकि ऐसा मानना उचित नहीं है; क्योंकि इस मत को स्वीकार करने पर दूसरे महर्षियों द्वारा रचित स्मृतियों-शास्त्रों को न मानने का दोष उपस्थित हो जायेगा। अन्य सभी स्मृतियों ने चूँकि जगत् का परम कारण ब्रह्म को ही कहा है, इसलिए वेदानुकूल स्मृतियों-शास्त्रों को ही प्रमाण मानना उचित है न कि वेद के प्रतिकूल सम्मति रखने वाली स्मृति को; क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से स्वतः प्रमाण है ॥१ ॥

सांख्यदर्शन के अनुसार 'प्रकृति' को जगत् का कारण न मानने में कोई दोष नहीं है, इस बात की पुष्टि के लिए सूत्रकार अगला कारण बतलाते हैं—

(१३७) इतरेषां चानुपलब्धेः ॥२ ॥

सूत्रार्थ— इतरेषाम् = अन्य स्मृतिकारों के (मत में), च = भी, अनुपलब्धेः = प्रधान कारणवाद की उपलब्धि नहीं होती, इसलिए भी सांख्य स्मृति का मत मानना उचित नहीं।

व्याख्या— सांख्यकार की मान्यता है कि 'पुरुष और जीवात्माएँ विभु एवं चिन्मात्र हैं, उनका बन्ध एवं मोक्ष प्रकृति ही करती है। सांख्य दर्शन के अनुसार सर्वेश्वर रूप से कोई विशिष्ट पुरुष नहीं है, बन्धन और मोक्ष दोनों ही प्राकृत हैं, आदि।' अन्य स्मृतियों एवं वेद विरुद्ध होने के कारण सांख्य स्मृति की इस मान्यता को प्रमाण मानना उचित नहीं है ॥२ ॥

योग शास्त्र के रचयिता पतञ्जलि भी सांख्य की सृष्टि प्रक्रिया को मानते हैं, अतः उसको मान्यता क्यों न दी जाये ? इस पर सूत्रकार कहते हैं—

(१३८) एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥३ ॥

सूत्रार्थ— एतेन = इस पूर्वोक्त विवेचन से, योगः = योगशास्त्र की भी (जो वेद विरुद्ध बातें हैं, उनका), प्रत्युक्तः = प्रत्युत्तर हो गया।

व्याख्या— योग शास्त्र के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ में दृश्यमान जड़ प्रकृति को जगत् का स्वतंत्र कारण बतलाया है। यद्यपि ऋषि ने उसमें ब्रह्म को स्वीकार अवश्य किया है; परन्तु उस स्वीकारोक्ति में स्पष्टता नहीं है। अन्य विषयों में योग का सांख्य के साथ मतभेद होने पर भी जड़ प्रकृति को जगत् का कारण मानने

में चूँकि दोनों एकमत हैं, अतः पूर्वसूत्रों में बताये गये कारणों के आधार पर सांख्य की ही तरह योगशास्त्र की भी उपर्युक्त मान्यता का निराकरण हो जाता है ॥३ ॥

अब ब्रह्म को उपादान कारण मानने वाले वादी के पक्ष में कार्य-कारण भाव की अनुपपत्ति कथन करते हैं—

(१३९) न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥४ ॥

सूत्रार्थ— अस्य = इस जगत् का उपादानकारण ब्रह्म, विलक्षणत्वात् = विलक्षण होने से, न = नहीं हो सकता, च = और, तथात्वम् = उसका जड़ होना, शब्दात् = शब्द (वेद) प्रमाण से सिद्ध है।

व्याख्या— विलक्षण होने से जगत् और ब्रह्म का कोई कारण भाव नहीं अर्थात् यह जगत् ब्रह्म से विलक्षण (भिन्न रूप वाला) होने से ब्रह्म का उत्पादन होना सिद्ध नहीं है; क्योंकि कार्य-कारण भाव समान लक्षण में ही होता है, विपरीत लक्षणों में नहीं। जैसा कि मिट्टी से घट, धागों से कपड़ा इत्यादि कार्य समान धर्म वाले द्रव्य से ही उत्पन्न होते हैं और जड़-चेतन की विलक्षणता शब्द (वेद) प्रमाण से भी पाई जाती है। चूँकि जगत् के लक्षण ब्रह्म के समान नहीं हैं; ब्रह्म शुद्ध है, परन्तु जगत् शुद्ध नहीं, इसलिए चेतन परब्रह्म परमात्मा को अचेतन जगत् का उपादान कारण नहीं मानना चाहिए ॥४ ॥

वादी के पक्ष में उक्त तर्क प्रस्तुत कर सूत्रकार ने अगला सूत्र कहा—

(१४०) अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५ ॥

सूत्रार्थ— तु = वहाँ तो, अभिमानिव्यपदेशः = तत्त्वाभिमानी देवताओं का वर्णन है, विशेषानुगतिभ्याम् = (यह बात) विशेष विवरण से सिद्ध है।

व्याख्या— छान्दोग्य उपनिषद् (६/२/३) में कहा गया है- तत्तेजऐक्षत बहुस्यामः अर्थात् तेज ने इच्छा की, कि मैं बहुत हो जाऊँ, तब उसने जल को रचा और जल ने भूमि को। इस प्रकार तेज, जल और अन्न (भूमि) इन तीनों की उत्पत्ति का वर्णन करने के बाद इन्हें 'देवता' कहा गया है। छा.उ. (६/३/२) तथा ऐतरेयोपनिषद् (१/२/४) के अनुसार अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट हुआ। इस प्रकार उनकी अनुगति का उल्लेख होने से भी उन तत्त्वों के अभिमानी देवताओं का ही वर्णन सिद्ध होता है। इसलिए चेतन ब्रह्म को इस जड़-जगत् का उपादान कारण मानना युक्ति संगत नहीं है ॥५ ॥

ग्रन्थकार अब उपर्युक्त शङ्का का उत्तर देते हैं—

(१४१) दृश्यते तु ॥६ ॥

सूत्रार्थ— तु = तो , दृश्यते = देखी जाती है (शास्त्र व लोक में भी सूक्ष्म आदि कारण से स्थूल की उत्पत्ति)।

व्याख्या- यह कहना ठीक है कि उपादान से उत्पन्न होने वाला कार्य उससे विलक्षण हो सकता है; क्योंकि मनुष्य आदि चेतन जीवों से नख-लोम आदि जड़ वस्तुओं की उत्पत्ति का वर्णन शास्त्र में भी देखने में आता है। उदाहरणार्थ- **'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्'** (मु.उ. १/१/७) अर्थात् जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केश और रोएँ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अविनाशी-चेतन परब्रह्म से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है। अतः ब्रह्म को जगत् का कारण मानना युक्तिसंगत तथा शास्त्र सम्मत है ॥६ ॥

अब इस सन्दर्भ में सूत्रकार असत्कारणवाद का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं—

(१४२) असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥७ ॥

सूत्रार्थ— असत् = सत्ता रहित, न दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आने पर, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहा जाये तो, न = ठीक नहीं, प्रतिषेधमात्रत्वात् = क्योंकि वहाँ 'असत्' शब्द प्रतिषेध मात्र का बोधक है।

व्याख्या— यदि यह कहा जाये कि अवयव रहित चेतन ब्रह्म से सावयव वर्ग का प्रादुर्भाव मानने पर जो वस्तु पहले नहीं थी, उसकी उत्पत्ति मानने का दोष उपस्थित होगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि 'दृश्यते तु' (२.१.६) सूत्र में कार्य और कारण की समानता का निषेध पाये जाने पर भी कारणभूत ब्रह्म अपने से विलक्षण जगत् के रूप में प्रकट होता है, इस बात का निषेध नहीं किया गया है। यहाँ 'असत्' पद प्रतिषेध मात्र का बोधक है। अत: असत् से सत् का प्रादुर्भाव होना संभव नहीं; क्योंकि अभाव कभी भाव रूप में परिणत नहीं होता; किन्तु सत् स्वरूप सर्वशक्तिमान् परमात्मा में जो जड़-चेतन जगत् शक्ति रूप से विद्यमान होते हुए भी अप्रकट रहता है, उसी का उसके संकल्प से प्रकट होना उत्पत्ति है। अस्तु, परब्रह्म परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति मानना असत् से सत् की उत्पत्ति मानना नहीं है॥७॥

अब पुन: पूर्वपक्षी के द्वारा व्यक्त की गई आशंका को आचार्य सूत्रकार सूत्रबद्ध करते हैं—

(१४३) अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्॥८॥

सूत्रार्थ— अपीतौ = प्रलयकाल में, तद्वत् = दोषयुक्त कार्य को उचित मानने का, प्रसङ्गात् = प्रसङ्ग उपस्थित होगा, असमञ्जसम् = उपर्युक्त मान्यता युक्ति-सङ्गत नहीं है।

व्याख्या— यदि प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् का उस सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा में विद्यमान रहना माना जाएगा, तब तो ब्रह्म में भी जड़ प्रकृति के जड़त्व तथा प्राणियों के सुख-दु:ख आदि का दोष मानने का प्रसङ्ग आ जायेगा तथा ब्रह्म को सत्य सङ्कल्प आदि गुण वाला और निर्विकार तथा सर्वथा विशुद्ध-दोष रहित मानने वाली श्रुतियों पर मिथ्यात्व का दोष लगेगा, जो किसी को भी मान्य नहीं है। अत: उपर्युक्त मान्यता को अनुपयुक्त मानते हुए श्रुतियों द्वारा कथित ब्रह्म के लक्षण (निर्विकार, सर्वथा विशुद्ध आदि) को ही ठीक मानना चाहिए॥८॥

अब सूत्रकार उक्त शङ्का का समाधान करते हैं—

(१४४) न तु दृष्टान्तभावात्॥९॥

सूत्रार्थ— तु = (पूर्व सूत्र में बताई गई असमंजसता) तो, न = नहीं है, दृष्टान्त-भावात् = यह दृष्टान्तों से सिद्ध है।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में की गई शंका निराधार है; क्योंकि कार्य के अपने कारण में विलीन हो जाने पर उसके धर्म कारण में रहते हैं, ऐसा नियम नहीं है, अपितु इसके विपरीत अनेक दृष्टान्त देखे जाते हैं अर्थात् जब कार्य अपने कारण में विलीन होता है, तब कार्य के धर्म भी कारण में विलीन हो जाते हैं। जैसे- स्वर्ण से निर्मित आभूषण जब अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, तब उन आभूषणों के धर्म (लक्षण) सुवर्ण में नहीं देखे जाते तथा मिट्टी से बने हुए घट आदि पात्रों के अपने कारण मृत्तिका में विलीन होने पर उनके लक्षण मृत्तिका में दिखाई नहीं देते। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रलय अथवा सृष्टिकाल किसी भी अवस्था में कारण अपने कार्य के धर्मों से लिप्त नहीं होता॥९॥

उपर्युक्त सूत्र में वादी की शङ्का को निर्मूल करने के बाद सूत्रकार अब उसके द्वारा उद्धृत दोषों की उसी के मत में व्याप्ति बताकर अपने सिद्धान्त को निर्दोष सिद्ध करते हैं—

(१४५) स्वपक्षदोषाच्च॥१०॥

सूत्रार्थ— स्वपक्षदोषात् = (वादी के) अपने पक्ष में दोष होने से, च = भी (प्रधान को जगत् का कारण मानना ठीक नहीं)।

व्याख्या— सांख्यवादी स्वयं भी जगत् के कारण रूप प्रधान को अवयवरहित, अव्यक्त, अग्राह्य मानते हैं।

उनके द्वारा साकार, व्यक्त एवं देखने-सुनने में आने वाले संसार का उद्‌भव मानना तो कारण से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति मानने का दोष स्वीकार करना है। फिर उत्पत्ति के पूर्व कार्य के शब्द-स्पर्शादि लक्षण 'प्रधान' में नहीं रहते और बाद में कार्य में आ जाते हैं। इसके अलावा, प्रलयकाल में समस्त कार्यों के 'प्रधान' में लय होने पर कार्य के शब्द, स्पर्शादि लक्षण प्रधान में नहीं रहते। इन मान्यताओं के आधार पर वादी के मतानुसार भी कारण में कार्य के लक्षण आ जाने की शङ्का पूर्ववत् बनी रहती है, चूँकि 'प्रधान' को कारण मानने में वादी के द्वारा उपस्थित किये गये तीनों दोष सम्मिलित हैं। अत: उपर्युक्त कारणों के आधार पर जगत् का कारण 'प्रधान' को मानना उचित नहीं है ॥१०॥

अब उपर्युक्त कथन पर वादी द्वारा सम्भावित आक्षेप को स्वयं सामने लाकर सूत्रकार उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(१४६) तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्ष प्रसङ्गः ॥११॥

सूत्रार्थ— तर्काप्रतिष्ठानात् = तर्कों के स्थिर न रहने से, अपि = भी, अन्यथा = अन्य प्रकार से, अनुमेयं = अनुमान के द्वारा कारण का निश्चय करना चाहिए, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो, एवम् अपि = तो ऐसी स्थिति में भी, अनिर्मोक्षप्रसङ्गः = मोक्ष न होने का प्रसङ्ग आ जायेगा।

व्याख्या— परस्पर भिन्न मतावलम्बी एक दूसरे के तर्क को दोषपूर्ण बताते हुए अपनी मान्यता को सही सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार तर्कों की शृंखला कभी समाप्त नहीं होती अर्थात् उनकी कोई स्थिरता नहीं होती। चूँकि लोगों की बुद्धि वृत्ति में भी परस्पर अन्तर पाया जाता है। अत: उनके अनुमानों में भी भिन्नता स्वाभाविक है। तथापि अर्थ की दृष्टि से तर्कों को ठीक मान लिया जाये, तो भी ब्रह्म में तर्क की अपेक्षा नहीं रहती अर्थात् तर्क बुद्धि से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और तत्त्वज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। अत: सांख्य मत में मोक्ष प्राप्त न होने का दोष आ जायेगा, इसलिए ब्रह्म के विषय में श्रुति ही प्रमाण है ॥११॥

अब सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार प्रधान कारणवाद निरस्त होता है, उन्हीं युक्तियों से अन्य वेदविरुद्ध मतों का भी निराकरण हो जाता है—

(१४७) एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥१२॥

सूत्रार्थ— एतेन = इस पूर्व निरूपित सिद्धान्त से, शिष्टापरिग्रहाः = शिष्ट पुरुषों द्वारा अमान्य मतों का, अपि = भी, व्याख्याताः = विवेचन (प्रतिवाद) कर दिया गया।

व्याख्या- पाँचवें से ग्यारहवें सूत्र तक सांख्य मत वालों द्वारा उपस्थित तर्कों का निराकरण करने से अन्य शिष्ट पुरुषों द्वारा जिन मतों का आदर नहीं किया गया- जो वेद के प्रतिकूल तथा सांख्य मत से मिलते-जुलते हैं, उनका भी खण्डन हो गया। इन सबसे यह सिद्ध हुआ कि वेद द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही ब्रह्म के विषय में यथार्थ ज्ञान कराने वाला है, इसलिए वेद के प्रतिकूल मत मान्य नहीं हो सकते ॥१२॥

पूर्व प्रकरण में प्रधानकारणवाद का प्रतिवाद किया गया। अब ब्रह्म कारणवाद में अन्य प्रकार के दोषों की आशंका करके आचार्य द्वारा उनका निराकरण किया जाता है—

(१४८) भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥१३॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो; भोक्त्रापत्तेः = ब्रह्म को जगत् का कारण मानने से उसमें भोक्तापन का दोष आ जायेगा, अविभागः = इसलिए जीव और ब्रह्म की भिन्नता सिद्ध नहीं होगी, तो भोग जड़ और भोक्ता चेतन की भिन्नता, लोकवत् = लोकदृष्ट की भाँति, स्यात् = हो सकती है।

व्याख्या— यदि यह शंका हो कि ब्रह्म को जगत् का कारण मान लेने पर जीव द्वारा कर्मफल रूप भोगों का भोक्तापन ब्रह्म में भी आ जायेगा, इससे जीव और ईश्वर का विभाग तो सम्भव नहीं रहेगा, साथ ही जड़ में

भोक्तापन का आरोप होने से भोग्य (जड़ वर्ग) और भोक्ता (जीव) की भिन्नता भी न हो सकेगी। परन्तु ऐसी शंका निर्मूल है; क्योंकि संसार में एक कारण से उत्पन्न हुई वस्तुओं में इस प्रकार की भिन्नता प्रत्यक्ष दिखाई देती है। पिता का अंशभूत बालक गर्भस्थ पीड़ा को स्वयं भोगता है, पिता नहीं भोगता तथा उस बालक और पिता की पृथक्ता भी प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार ब्रह्म में भोक्तापन का आरोप नहीं हो सकता तथा जीव और ब्रह्म की भिन्नता भी नष्ट नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार एक ही पिता से उत्पन्न कई लड़के आपस में एक-दूसरे के सुख-दु:ख के भोक्ता नहीं होते, उसी प्रकार विभिन्न जीव अपने कर्मानुसार अपने-अपने हिस्से का सुख-दु:ख स्वत: भोगते हैं, एक दूसरे का नहीं। इसी तरह यह भी देखने में आता है कि एक ही पृथ्वी-तत्त्व के अनेक कार्य घट, पट, कपाट आदि में परस्पर अलग-अलग नाम, रूप और प्रयोग व्यवहार जगत् में देखे जाते हैं- उसी प्रकार एक ही ब्रह्म के असंख्य कार्य होने पर भी उनके विभाग को अमान्य नहीं किया जा सकता॥१३॥

उपर्युक्त बातों से कारण और कार्य में अभेद की शङ्का उत्पन्न होने पर सूत्रकार समाधान करते हैं—

(१४९) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य: ॥१४॥

सूत्रार्थ— तदनन्यत्वम् = उस कारणभूत ब्रह्म की जगत् से अनन्यता सिद्ध होती है। आरम्भणशब्दादिभ्य: = आरम्भण शब्द आदि के द्वारा भी सिद्ध है।

व्याख्या— छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है **'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्'** (छा.उ. ६ १/४) अर्थात् 'जैसे मिट्टी के एक ढेले का तत्त्व जान लेने पर मिट्टी से उत्पन्न सभी कार्य जान लिए जाते हैं। नाम और आकृति के भेद तो वाणी से कहने के लिए होते हैं, यथार्थ में तो वह सब मिट्टी ही है।' इसी प्रकार कार्य रूप स्थित यह जगत् भी ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण ब्रह्ममय९८

ही है। इस प्रकार ब्रह्म की जगत् से अनन्यता सिद्ध होती है। जिस प्रकार सुवर्ण के हार, कुण्डल आदि उत्पत्ति के पूर्व तथा विलय के पश्चात् अपने कारण रूप स्वर्ण में शक्ति रूप में विद्यमान रहते हैं (शक्ति, शक्तिमान् में अभेद होने के कारण उनकी अनन्यता में किसी प्रकार का दोष नहीं आता), उसी प्रकार यह सम्पूर्ण चराचर जगत् उत्पत्ति से पूर्व एवं प्रलय के बाद परब्रह्म परमात्मा में शक्ति के रूप में अव्यक्त रहता है। अत: जगत् और ब्रह्म की अनन्यता निर्बाध है। गीताकार स्वयं कहते हैं कि यह अष्टभेदी प्रकृति तो मेरी अपरा प्रकृति रूपा शक्ति है और जीव रूपी चैतन्य समूह मेरी परा प्रकृति है तथा ये दोनों समस्त प्राणियों के कारण हैं और मैं सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय रूप महाकारण हूँ। (गीता- ७/५-६) उपर्युक्त कथन में भगवान् ने अपनी प्रकृतियों के साथ अनन्यता सिद्ध की है॥१४॥

प्रादुर्भाव से पूर्व कार्य कारण रूप में विद्यमान रहता है, इस बात को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार अन्य हेतु का निर्देश करते हैं—

(१५०) भावे चोपलब्धे: ॥१५॥

सूत्रार्थ— भावे = (कारण में) कार्य की सत्ता होने पर, च = ही, उपलब्धे: = उसकी उपलब्धि सम्भव है।

व्याख्या— कार्य और कारण में एक नियम देखा जाता है कि जब कार्य अपने कारण में निहित रहता है, तभी उसकी उपलब्धि होती है। न केवल शब्द प्रमाण से अपितु प्रत्यक्ष उदाहरण में भी देखा जाता है कि घड़ा मिट्टी का ही एक आकार विशेष है, कपड़ा धागों का ताना-बाना मात्र है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि घड़ा मिट्टी का तथा कपड़ा धागों का ही एक रूप है। अत: यह स्पष्ट है कि कारणभूत द्रव्य केवल अपने रूप को बदल देता है, परन्तु उसका मूल अस्तित्व उससे अलग नहीं होता। इससे कार्य और कारण की अनन्यता सिद्ध होती है॥१५॥

इसी विषय को प्रकारान्तर से अन्य हेतु उपस्थित करते हुए सूत्रकार पुनः सिद्ध करते हैं—

(१५१) सत्त्वाच्चावरस्य ॥१६॥

सूत्रार्थ— अवरस्य = कार्य का कारण में, सत्त्वात् = सत्ता पाये जाने से, च = भी (कार्य और कारण की अभिन्नता सिद्ध है।)

व्याख्या— उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् कारण रूप से सत् (विद्यमान) रहता है। शास्त्र में इसका स्पष्ट उल्लेख है- **'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'** (छा.उ. ६/२/१) अर्थात् 'हे सोम्य! यह उत्पत्ति के पहले भी सत्य था तथा **'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्'** (बृह.उ. १/४/७) अर्थात्- उस समय यह अप्रकट था।' इन दृष्टान्तों से यह सिद्ध है कि स्थूल रूप से प्रकट होने से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् अपने कारण में शक्ति रूप में विद्यमान रहता है और वही सृष्टिकाल में प्रकट होता है ॥१६॥

असदेवेमग्र आसीत् (छा.उ. ३/१९/१)सृष्टि से पहले यह (कार्य) असत् था, फिर इसको कारण रूप से सत् कैसे कहा जाता है। शिष्य द्वारा ऐसी आशंका करने पर आचार्य ने समाधान किया—

(१५२) असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥१७॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो, असद्-व्यपदेशात् = उत्पत्ति के पहले जगत् को असत् बतलाने से, न = कार्य का कारण में पहले से ही विद्यमान होना सिद्ध नहीं होता, इति न = तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि, धर्मान्तरेण = वैसा लक्षणों में विभिन्नता होने के कारण कहा गया है, वाक्यशेषात् = यह बात अन्तिम वाक्य से सिद्ध होती है।

व्याख्या— तैत्तिरीयोपनिषद् (२/७) में कहा गया है कि **'असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत'** अर्थात् यह सब पहले 'असत्' ही था, उसी से 'सत्' उत्पन्न हुआ। यहाँ 'पहले असत् ही था' का तात्पर्य यह नहीं है कि यह जगत् प्राकट्य से पूर्व नहीं था; क्योंकि बाद के आसीत् में उसका होना कहा गया है। अभिप्राय यह है कि उद्‌भव से पहले यह जगत् असत् अर्थात् अप्रकट था, फिर उससे सत् की उत्पत्ति हुई-अर्थात् अप्रकट जगत् प्रकट स्वरूप में आया। इसी प्रकार छान्दोग्य (६/२/१) में कहा गया है- **'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत'** अर्थात् 'कोई-कोई कहते हैं, यह जगत् पहले असत् था। एक मात्र वही था, अन्य नहीं। फिर उस 'असत्' से 'सत्' प्रकट हुआ। इस प्रकार जगत् के लिए 'असत्' कहा जाने से कारण में कार्य का अस्तित्व नहीं दिखाई देता, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि छान्दोग्य (६/२/२) स्वयं ही इस अभाव के भ्रम का निवारण करते हुए कहती है- **'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति'** अर्थात्- हे सोम्य! ऐसा होना कैसे सम्भव है? असत् से सत् कैसे प्रकट हो सकता है। इसका उत्तर भी वहीं मिलता है- **'सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत्'** अर्थात्- पहले यह सब सत् ही था, पहले अव्याकृत अर्थात् अप्रकट था, बाद में नाम रूप युक्त होकर प्रकट हो गया ॥१७॥

पूर्वोक्त कथन को पुष्ट करने के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

(१५३) युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥१८॥

सूत्रार्थ— युक्तेः = युक्ति से, च = और, शब्दान्तरात् = अन्य शब्द प्रमाण से भी (उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।)

व्याख्या— युक्ति से भी उपादान कारण और कार्य की अनन्यता सिद्ध होती है। युक्ति का अभिप्राय यह है कि जिस कारण में कार्य का भाव होता है, उसी से उस कार्य का प्रादुर्भाव होता है, अन्य से नहीं। जैसे वस्त्र के उत्पादन हेतु उसके उपादान तत्त्व के रूप में कपास या सूत की आवश्यकता होती है, मिट्टी या अन्य

पदार्थों की नहीं। इसी प्रकार घट के निर्माण हेतु मिट्टी उपादान का संग्रह होता है, न कि अन्य सूतादि का। इस युक्ति से यह बात सिद्ध होती है कि वस्त्र की सत्ता उत्पत्ति से पूर्व सूत्र-तन्तुओं में तथा घड़े की सत्ता मिट्टी में विद्यमान रहती है, अन्यथा उनके प्रादुर्भाव के लिए उन्हीं नियत उपादानों का संग्रह करना निरर्थक होता।

इस युक्ति के अतिरिक्त अन्य शास्त्र वचनों से सत्कार्यवाद पुष्ट होता है। बृहदारण्यक आदि में जो उसके लिए अव्याकृत आदि शब्द प्रयुक्त हैं, उनसे भी यह सिद्ध होता है कि यह जगत् उत्पन्न होने से पहले अपने सद् रूप में ही था॥१८॥

अब अन्य कतिपय उदाहरणों के माध्यम से उक्त अर्थ को पुष्ट करते हुए सूत्रकार अगला सूत्र कहते हैं—

(१५४) पटवच्च॥१९॥

सूत्रार्थ— पटवत् = (सूत में) वस्त्र की भाँति, च = भी (ब्रह्म में जगत् पहले से ही स्थित है)।

व्याख्या— वस्त्र सूत से बनता है। जब तक वह तन्तु (सूत) के रूप में रहता है, वस्त्र नहीं कहलाता; परन्तु ताने-बाने के रूप में व्यवस्थित कर दिये गये तन्तुओं की विशेष अवस्था को ही वस्त्र की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। यह अपने कारण तन्तुओं से अतिरिक्त कुछ नहीं है। बुनने से पूर्व तथा बुना जाने पर दोनों ही अवस्थाओं में 'वस्त्र' अपने ही कारण में स्थित रहता है। सूत से वस्त्र का रूप भिन्न होने पर भी वह सूत से अभिन्न है। इसी प्रकार जगत् को भी समझना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि उपादान कारण और कार्य में अनन्यता है, भिन्नता नहीं।

जैसे लपेटे हुए वस्त्र की लम्बाई- चौड़ाई का पता नहीं लगता, परत खोल देने पर उसका पता लग जाता है। वस्त्र की यह दो अवस्था मात्र है, वस्त्र भेद नहीं। इसी प्रकार यह जगत् कारण अवस्था में समवेष्टित पट की तरह था तथा कार्यावस्था में विस्तारित पट के समान रूपान्तर को प्राप्त हो गया है। अत: कार्य-कारण का अभेद सिद्ध है॥१९॥

उक्त दृष्टान्त को सूत्रकार प्राण आदि के दृष्टान्त से समझाते हैं—

(१५५) यथा च प्राणादि॥२०॥

सूत्रार्थ— च = और, यथा = जैसे, प्राणादि = प्राण और इन्द्रियाँ हैं।

व्याख्या— जिस प्रकार देह त्याग के समय प्राण और इन्द्रियाँ जीवात्मा के साथ शरीर से बाहर अन्यत्र चले जाते हैं, तब उनका स्वरूप अप्रकट होने पर भी उनका अस्तित्व अवश्य रहता है। उसी प्रकार प्रलय काल में सृष्टि के विलीन हो जाने पर भी जगत् का अस्तित्व कारण रूप में अवश्य रहता है। इससे भी कार्य जगत् की कारणावस्था में सत्ता प्रमाणित होती है॥२०॥

कार्य -कारण का अभेद मानने में शिष्य द्वारा दूसरे प्रकार की शङ्का उठाकर उसका निराकरण करने के लिए अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

(१५६) इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः॥२१॥

सूत्रार्थ— इतरव्यपदेशात् = ब्रह्म ही जीव रूप से उत्पन्न होता है, ऐसा कहने से; हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः = ब्रह्म द्वारा प्रतिकूल सृष्टि रचने का दोष-प्रसंग उपस्थित होगा।

व्याख्या— बृह.उप. (२/५/१९) में कहा है-'**अयमात्मा ब्रह्म**' यह आत्मा ब्रह्म है तथा छा.उ. (६/३/३) में '**सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेनैव जीवनेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्**' अर्थात् इस देवता (ब्रह्म) ने तेज आदि तत्त्व से बने देह में जीव रूप से प्रविष्ट होकर नाम-रूपों को प्रकट किया। इसके अतिरिक्त श्वेताश्वतर (४/३) में कहा है '**त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी**' अर्थात् तू स्त्री है, तू पुरुष है,

तू ही कुमार और कुमारी है'। इन वर्णनों में ब्रह्म के स्वयं ही जीव रूप से उत्पन्न होने की पुष्टि हुई है। इससे ब्रह्म द्वारा प्रतिकूल सृष्टि रचकर अपना अहित करने का दोष आता है, जो उचित नहीं है; क्योंकि जगत् में उत्पन्न होने वाला प्रत्येक जीव दु:खादि भोगों को भोगेगा ही, तो जो दु:ख भोगों का वरण करने के लिए जन्म-मरण के चक्र में स्वयं फँसे, वह ब्रह्म सर्वज्ञ एवं दूरदर्शी नहीं हो सकता; परन्तु यह शंका उचित नहीं है। ब्रह्म और जीव में भिन्नता है, अत: ब्रह्म दु:ख भोग आदि में संलिप्त नहीं होता, यह बात अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं॥२१॥

उक्त जिज्ञासा के आधारभूत भ्रम का निराकरण करने हेतु सूत्रकार कहते हैं—

(१५७) अधिकं तु भेदनिर्देशात्॥२२॥

सूत्रार्थ— तु = परन्तु, अधिकम् = (ब्रह्म जीव से) अधिक है, भेदनिर्देशात् = क्योंकि श्रुति ने जीव और ब्रह्म का भेद बताया है।

व्याख्या— ब्रह्म स्वयं ही जीव रूप से इस संसार में भोक्ता बनकर आता है, आशंका के इस आधार का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ब्रह्म स्वयं भोक्ता नहीं है, बल्कि भोक्ता जीवात्मा तथा जगत् स्रष्टा ब्रह्म दोनों भिन्न तत्त्व हैं। जीव अल्पज्ञ है, अल्प शक्ति है, परिमित है तथा ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वान्तर्यामी है। इन दोनों का विभेद वास्तविक है, आपत्तिक नहीं है। ऋग्वेद (१/१६४/२०) में वर्णन है- '**तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**' अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों में से एक जीवात्मा संसार में स्वादु फलों को भोगता है तथा दूसरा परमात्मा न भोगता हुआ साक्षी बना रहता है।

'**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरा**' (श०प० १४/५/३०) अर्थात् जो जीवात्मा के अन्तर्गत है, परन्तु जिसका देह है, वह जीवात्मा उसे नहीं जानता, जो जीव का प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप नियमन करता है, वह अन्तर्यामी ब्रह्म है। बृह.उप. (४/३/३५) में जीव के मरणकाल की स्थिति का निरूपण करते हुए बताया है कि 'उस परब्रह्म से अधिष्ठित हुआ यह एक दूसरे देह में अवस्थान करता है।' इस वर्णन से जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट हो जाता है। परम शक्तिशाली परमात्मा अपने संकल्प शक्ति के द्वारा जगत् की रचना कर उसमें प्रवेश कर लीला करते हैं तथा जीर्ण हो जाने पर मकड़ी के जाले के समान वे इस जगत् का संहार कर देते हैं। अत: यह सिद्ध है कि ब्रह्म जीव से भिन्न है, वह स्वयं संसार में जीवात्मरूप से भोक्ता बनकर नहीं आता। ब्रह्म नित्यमुक्त है तथा जगत् का निमित्त कारण है, फलत: अपना अहित करने आवागमन के चक्र में अपने को डाले रहने आदि का दोष उस पर नहीं आता॥२२॥

अब इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए आचार्य दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

(१५८) अश्मादिवच्च तदनुपपत्ति:॥२३॥

सूत्रार्थ— च = और, अश्मादिवत् = पत्थर आदि के समान, तदनुपपत्ति: = जीवात्मा का ब्रह्मरूप होना अनुपपन्न (अयुक्त) है।

व्याख्या— विभिन्न पदार्थों को किसी एक गुणधर्म की समानता के आधार पर एक नहीं माना जा सकता। साधारण पत्थर, मध्य स्तर की मणियाँ तथा हीरा- तीनों में पार्थिव समानधर्म पाये जाने पर भी इन्हें एक नहीं कहा जा सकता। हीरा अत्यधिक मूल्यवान् होता है, अनेक मणियाँ मध्य स्तर के मूल्य की होती हैं तथा सामान्य पत्थर अल्प मूल्य का ही होता है अर्थात् एक सामान्य पत्थर कभी मणि अथवा हीरा नहीं बन सकता। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म में चैतन्य समानधर्म होने पर भी जीव का ब्रह्म रूप होना अनुपपन्न (अयुक्त) है; क्योंकि ब्रह्म चेतन और आनन्दमय होने के साथ-साथ जीव और जगत् की रचना करके कारण रूप से सबमें

अनुगत रहता है। इस प्रकार जीव के अन्तर में प्रविष्ट होकर वह उसका नियमन करता है, अत: जीव से अभिन्न रहकर भी वह उससे भिन्न है; क्योंकि जीव अल्पज्ञ और सुख-दु:ख आदि का भोक्ता है; किन्तु ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वनियन्ता तथा सुख-दु:ख आदि भोगों से परे है, उसे जगत् के भोग स्पर्श नहीं करते, वह हित-अहित दोनों से परे है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध है॥२३॥

शिष्य आशंका करता है कि लोक में प्रत्येक निर्माता अपनी रचना के लिए उपादान तत्त्व के अतिरिक्त अन्य अनेक सहायक वस्तुओं को एकत्रित करता है; किन्तु जगन्नियन्ता ब्रह्म के सन्दर्भ में यह नहीं देखा जाता कि वह जगन्निर्माण के लिए किन्हीं साधन तत्त्वों का संग्रह करता हो। इससे सन्देह होता है कि जगत् निर्माण में वह (ब्रह्म) कारण है भी या नहीं ? सूत्रकार आचार्य समाधान करते हैं—

(१५९) उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो, उपसंहार दर्शनात् = (घट आदि निर्माण के लिए लोक में) साधन-सामग्री का संग्रह देखा जाता है,(किन्तु ब्रह्म के पास कोई साधन नहीं) इसलिए, न = ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, इति न = तो , ऐसा कहना ठीक नहीं है, हि = क्योंकि, क्षीरवत् = दूध के समान ही (ब्रह्म को अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं है)।

व्याख्या— यदि यह शंका करो कि लोक में घड़ा, वस्त्र आदि के निर्माण हेतु सक्रिय कर्त्ता का होना तथा मिट्टी, चाक, डण्डा, डोरा, पानी तथा सूत, करघा आदि अनेक साधनों का संग्रह अनिवार्यत: देखा जाता है; परन्तु ब्रह्म को अकेला, निराकार, निष्क्रिय आदि कहा गया है किसी प्रकार की साधन सामग्री भी उसके पास नहीं है, इसलिए वह इस अद्भुत एवं विराट् जगत् की सृष्टि का कार्य नहीं कर सकता, तो ऐसा मानना उपयुक्त नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार दूध-अन्य बाह्य साधन की अपेक्षा के बिना अपनी स्वाभाविक शक्ति से स्वत: दही रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार परमात्मा भी अपनी स्वाभाविक संकल्प शक्ति से जगत् का स्वरूप धारण कर लेता है। शास्त्र कहता है- '**स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत**' (ऐतरेयोपनिषद् १/१-२) अर्थात् उसने देखा अथवा संकल्प किया, लोकों को बनाऊँ, वह इन लोकों को बना देता है। मकड़ी भी अपनी शक्ति से जाला बुन डालती है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अपनी अचिन्त्य शक्ति से ही सृष्टि की रचना करता है। ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के बारे में श्रुति (श्वेता० ६/८) कहती है- उस परमात्मा को किसी साधन की आवश्यकता नहीं है, उसके समान और उससे बढ़कर भी कोई नहीं देखा जाता है। उसकी ज्ञान, बल और क्रिया रूप स्वाभाविक पराशक्ति नाना प्रकार की ही सुनी जाती है॥२४॥

अन्य साधनों के बिना संकल्प मात्र से ब्रह्म द्वारा जगत् की रचना किए जाने के सन्दर्भ में सूत्रकार अन्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

(१६०) देवादिवदपि लोके ॥२५॥

सूत्रार्थ— लोके = लोक में, देवादिवत् = देव आदि के समान, अपि = भी।

व्याख्या— जैसे लोक में देवता अथवा योगी आदि सिद्धगण बिना किसी साधन-सामग्री अथवा बिना किसी उपकरण आदि की सहायता के अपनी अद्भुत संकल्प शक्ति द्वारा ही बहुत से शरीर आदि की रचना कर लेते हैं, मनोवाञ्छित वस्तुओं-पदार्थों को प्रकट कर लेते हैं, वैसे ही ब्रह्म भी अपनी इच्छा मात्र से यदि जड़-चेतनात्मक जगत् की रचना कर दे या स्वयं उस रूप में प्रकट हो जाये, तो क्या आश्चर्य है ?॥२५॥

अब मायावादियों के मत में ब्रह्मकारणवाद की अनुपपत्ति का कथन करते हैं—

(१६१) कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२६॥

सूत्रार्थ— कृत्स्नप्रसक्ति: = (ब्रह्म को इस जगत् का कारण मान लेने पर) ब्रह्म पूर्णतया जगत् रूप में परिणत

हो गया (ऐसा दोष उपस्थित होगा), वा = अथवा, निरवयवत्वशब्दकोप: = उसको निरवयव बताने वाले श्रुति शब्दों से विरोध होगा।

व्याख्या— ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर उसमें दो दोष आयेंगे। प्रथमत: ब्रह्म को अवयव रहित मानने पर अपने सम्पूर्ण रूप से जगत् के आकार में परिणत होने का दोष उस पर लगेगा, साथ ही जगत् से भिन्न ब्रह्म नाम की कोई वस्तु शेष नहीं रहेगी और यदि उसे सावयव मानें, तो उस पर दोष आयेगा कि उसके शरीर का एक अंश विकृत होकर जगत् के रूप में प्रकट हो गया और शेष अंश ब्रह्म रूप में ही स्थित है, परन्तु वह अवयवयुक्त तो है नहीं; क्योंकि श्रुति उसे निष्क्रिय, निष्कल, शान्त, निरवद्य और निरञ्जन बताती है (श्वेता. ६/१९)। अन्यत्र उसे दिव्य, अमृत आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है (मु.उ. २/१/२)। इस स्थिति में उसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि का उपदेश व्यर्थ होगा। इस दोष से बचने के लिए यदि उसे सावयव मान लिया जाये, तो उसे 'अवयवरहित, अजन्मा' आदि बताने वाले श्रुति शब्दों का विरोधी अर्थात् मरणशील मानना होगा। इसलिए ब्रह्म को जगत् का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है॥२६॥

अब शंका का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१६२) श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्॥२७॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, श्रुते: = श्रुति ने (ब्रह्म का स्वरूप), शब्दमूलत्वात् = अपने शब्दों में प्रमाण रूप कहा है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में पूर्वपक्षी द्वारा ब्रह्म के सम्बन्ध में जिस दोष की शङ्का की गई है, वह निरर्थक है; क्योंकि ब्रह्म के बारे में विचार श्रुति पर आधारित है। श्रुति ने जिस प्रकार ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बताई है, उसी प्रकार निर्विकार रूप से ब्रह्म की स्थिति का भी प्रतिपादन किया है। श्वेताश्वतर- (६/१६/१९) श्रुति ने ब्रह्म को निर्विकार, नित्य, निष्क्रिय बताने के साथ ही अभिन्न रूप से जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण कहा है। वेद ने उस परब्रह्म को अवयवरहित बताने के साथ ही सम्पूर्ण रूप से जगत् के आकार में परिणत होना नहीं कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् (३/१२/६) **'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुष: पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'** के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म के एक पाद में स्थित है, शेष अमृत स्वरूप तीन पाद परमधाम में स्थित हैं। अत: ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में पूर्वोक्त दोष नहीं प्राप्त होते हैं॥२७॥

इसी प्रसङ्ग को आचार्य युक्ति से भी पुष्ट करते हैं—

(१६३) आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि॥२८॥

सूत्रार्थ— च = और, हि = क्योंकि, आत्मनि = जीवात्मा में, च = भी, एवम् = ऐसी, विचित्रा: = विचित्र सृष्टियाँ (देखी जाती हैं)।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में ब्रह्म के विषय में केवल श्रुति प्रमाण उपस्थित किये गये, उसके सिवा अन्य प्रमाणों से भी बात समझी जा सकती है कि निरवयव परब्रह्म से इस अद्‌भुत सृष्टि का उद्‌भव असंगत नहीं है; क्योंकि स्वप्नावस्था में भी अवयवरहित इस निर्विकार जीवात्मा द्वारा अनेक प्रकार की विचित्र रचना होती देखी जाती है। योगीजन भी अपनी योग शक्ति के बल पर अनेक प्रकार की रचनाएँ करते हुए देखे गये हैं। प्रबल इच्छाशक्ति के आधार पर बहुत से आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न होते देखे जाते हैं। प्राचीन ऋषियों-विश्वामित्र, च्यवन, भरद्वाज, वसिष्ठ तथा उनकी नंदिनी नामक धेनु आदि में अद्‌भुत सृष्टि निर्माण की शक्ति का वर्णन पुराण ग्रन्थों में पाया जाता है। ऋषियों-तपस्वियों ने अपने शाप-वरदान के बल पर बहुतों को भस्म एवं जीवित कर दिया। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि जब ऋषि-मुनि आदि विशिष्ट जीव कोटि के लोगों में अपने

अविकृत स्वरूप में विचित्र सृष्टि-सर्जना की सामर्थ्य हो सकती है, तब परमात्मा में ऐसी शक्ति का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है अर्थात् ब्रह्म की रचना-शक्ति का जो वर्णन श्रुति ने किया है, वह यथार्थ है॥२८॥

सांख्यवादियों के मतानुसार भी अवयव रहित वस्तु से सावयव जगत् की सृष्टि पायी जाती है। अतः—

(१६४) स्वपक्षदोषाच्च॥२९॥

सूत्रार्थ— स्वपक्षदोषात् = अपने पक्ष में दोष से, च = भी (ब्रह्म को ही जगत् का कारण मानना ठीक है)।

व्याख्या— सांख्यमतानुसार यदि प्रधान को जगत् का कारण मान लिया जाये, तो उसमें भी कई दोष मिलेंगे; क्योंकि वह श्रुति से तो प्रमाणित है ही नहीं; युक्ति से भी नहीं है। निरवयव जड़ प्रधान से सावयव सजीव जगत् की उत्पत्ति की मान्यता विरोधाभासी है; क्योंकि सांख्यवादी भी ब्रह्म की भाँति प्रधान को भी सीमित या सावयव नहीं मानते। अतः जिन दोषों का आरोपण वे ब्रह्म में करते हैं, उन सभी दोषों से प्रधान भी मुक्त नहीं है। अस्तु, श्रुति द्वारा प्रमाणित ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न, निमित्त एवं उपादान कारण है॥२९॥

सांख्यवादियों की मान्यता को त्रुटिपूर्ण बताने के बाद अब अपने सिद्धान्त की निर्दोषता सिद्ध करने हेतु सूत्रकार कहते हैं—

(१६५) सर्वोपेता च तद्दर्शनात्॥३०॥

सूत्रार्थ— च = और, वह (परब्रह्म परमेश्वर), सर्वोपेता = सब शक्तियों से युक्त है, तद्दर्शनात् = क्योंकि श्रुति में ऐसा ही देखा जाता है।

व्याख्या— वह ब्रह्म सम्पूर्ण शक्तियों से परिपूर्ण है, ऐसा वेद में जगह-जगह कहा गया है। छान्दोग्य (३/१४/२) में कहा गया है- **'सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा......'** अर्थात् 'वह ब्रह्म सत्यसंकल्प, आकाशस्वरूप, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, समस्त जगत् को सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाणी रहित और मानरहित है।' मुण्डकोपनिषद् (१/१/९) कहती है- **'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः'** अर्थात् 'जो सर्वज्ञ, सबको जानने वाला है, जिसका ज्ञानमय तप है, उसी परब्रह्म से यह विराट् रूप जगत् और नाम, रूप तथा अन्न उत्पन्न होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् (२/१/१) के **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस वाक्य ने ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त कहकर उसे महान् शक्तिशाली सिद्ध किया है। इस प्रकार अनेक महत् शक्तियों से सम्पन्न उस परब्रह्म परमात्मा से इस विचित्र जगत् का उद्भव अयुक्त नहीं है॥३०॥

अब उक्त अर्थ में शंका उठाकर सूत्रकार उसका निराकरण करते हैं—

(१६६) विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्॥३१॥

सूत्रार्थ— विकरणत्वात् = वह ब्रह्म मन, इन्द्रिय आदि करणों से रहित है, न = इसलिए (वह) जगत् का कारण नहीं है, चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो, तदुक्तम् = तो उसका उत्तर दिया जा चुका है।

व्याख्या— श्वेताश्वतर (६/८) के अनुसार यदि कहो कि ब्रह्म शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि करणों से रहित होने के कारण जगत् की रचना करने में समर्थ नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इसका उत्तर पहले के सूत्र **'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्'** में दे दिया गया है। शास्त्र में जहाँ ब्रह्म को चक्षु आदि इन्द्रियों से रहित कहा गया है, वहीं उसे समस्त शक्तियों से युक्त एवं समस्त अर्थों का नियन्ता, प्रेरयिता व जगत्कर्त्ता कहा गया है। श्रुति इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहती है- **'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'** अर्थात् उसके हाथ-पैर तो नहीं हैं, पर इनके बिना भी वह सर्वत्र प्राप्त है, सबको धारण किये है। उसके चक्षु नहीं हैं, पर सबको देखता है, श्रोत्र नहीं, पर सबको सुनता है। बृहदारण्यक (३/८/११) में कहा- समस्त इन्द्रियाँ मिलकर भी उसे जानने-समझने में असमर्थ हैं, पर वह सबका द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता है। केनोपनिषद् (१/१-८) के अनुसार समस्त इन्द्रिय आदि में विविध शक्ति का संचारकर्त्ता वही ब्रह्म है। वह

अनन्त शक्ति का भण्डार है। इसलिए ब्रह्म ही जगत् का कारण सिद्ध होता है॥३१॥

अब यहाँ जिज्ञासु शिष्य के मन में दूसरे प्रकार की आशंका उपस्थित होने पर सूत्रकार उसे सूत्रबद्ध करते हैं—

(१६७) न प्रयोजनवत्त्वात्॥३२॥

सूत्रार्थ— न = (ब्रह्म जगत् का कारण) नहीं, प्रयोजनवत्त्वात् = प्रयोजन युक्त होने से।

व्याख्या— लोक में जीव की समस्त प्रवृत्तियाँ प्रयोजन से युक्त दिखाई पड़ती हैं। प्रयोजन अपना और पराया दो तरह का हो सकता है, किन्तु ब्रह्म का इस जगत् की रचना में अपना कोई प्रयोजन दिखाई नहीं देता; क्योंकि शास्त्र उसे आप्तकाम, अकाम और आनन्दस्वरूप बताता है। ऐसे ब्रह्म का जगत् रचना में अपना कोई स्वार्थ सम्भव नहीं। यदि जीवों पर अनुग्रह की भावना से इस जगत् की रचना ब्रह्म द्वारा किया जाना माना जाये, तो वह संसार को सुखमय बनाता अन्यथा अनुग्रह कैसा? परन्तु दु:खमय संसार में जीवों को कोई सुख मिलता हो, ऐसी बात भी दिखाई नहीं देती। अत: जगत् रचना में ब्रह्म का कोई प्रयोजन दिखाई न देने के कारण उसकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं लगती, फलत: ब्रह्म को जगत् का कारण नहीं मानना चाहिए॥३२॥

पूर्वोक्त जिज्ञासा का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

(१६८) लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥३३॥

सूत्रार्थ— तु = तो, लोकवत् = लोक में (आप्तकाम पुरुषों के समान), लीला कैवल्यम् = (सृष्टि रचना का उद्देश्य) केवल लीला ही है।

व्याख्या— जिस प्रकार लोक में देखा जाता है कि आप्तकाम, वीतराग महापुरुष जो कि परमात्मतत्त्व को प्राप्त हो चुके होते हैं, जिनका कर्म करने या न करने से कोई प्रयोजन नहीं होता, फिर भी नि:स्वार्थ भाव से फल की आकांक्षा के बिना जगत् के कल्याण हेतु स्वभावत: कर्म करते हैं। उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा के स्वयं में परिपूर्ण होने पर भी सृष्टि रचना में उसकी प्रवृत्ति केवल लीला मात्र है। यद्यपि संसारी जीवों की दृष्टि में यह सृष्टि सृजन का कार्य बड़ा ही गुरुतर एवं दुष्कर है, तथापि सर्वसमर्थ परमात्मा के लिए जो कि अपनी अनंत शक्तियों द्वारा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का सृजन एवं संहार करने में समर्थ हैं, यह लीला मात्र है। अत: बिना प्रयोजन ब्रह्म द्वारा सृष्टि सृजन का कार्य होना उचित ही है॥३३।

अब शिष्य आशंका करता है कि ब्रह्म द्वारा जगत् की रचना में विषमता तथा निर्दयता का दोष दिखाई देता है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि लाखों प्रकार की योनियों में उत्पन्न की गई आत्माओं में से वह देवता आदि को अधिक सुखी स्थिति में, मनुष्यों को सुख-दु:ख से परिपूर्ण मध्यम स्थिति में तथा मनुष्येतर प्राणियों को अत्यन्त कष्टपूर्ण परिस्थितियों में डाल देता है। अत: सुखी बनाने वालों के प्रति उसका राग या पक्षपात का भाव दिखता है तथा दु:खी बनाने वालों के प्रति उसकी द्वेष-बुद्धि या निर्दयता दिखती है। इस दोष का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

(१६९) वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति॥३४॥

सूत्रार्थ— वैषम्यनैर्घृण्ये = विषमता और निर्दयता का दोष (ब्रह्म को), न = नहीं लगता, सापेक्षत्वात् = (क्योंकि वह) जीवों के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि रचना करता है, तथा हि = ऐसा ही, दर्शयति = श्रुति दिखलाती है।

व्याख्या— ब्रह्म पर विषमता एवं निर्दयता आदि दोषों के निराकरण में श्रुति कहती है, **'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेन'** (बृह०उ० ३/२/१३) अर्थात् यह जीव पुण्य कार्य से पुण्यवान् और पाप करने से पापी होता है, तो पाप कर्म करने वाले का दु:ख भोगना स्वाभाविक है, इसमें निर्दयता कैसी? यदि पापी व्यक्ति स्वर्ग का सुख प्राप्त करे, तो पुण्य कर्म कोई नहीं करेगा? क्योंकि लोगों की प्रवृत्ति पुण्य कर्मों की अपेक्षा पाप कर्मों में सहज होती है। इसी उत्तर से विषमता के आरोप का भी निराकरण हो जाता है; क्योंकि

अच्छे कर्म करने वाले का सुखी एवं सदाचारी कुल में जन्म पाना स्वाभाविक और न्याय सङ्गत है। यदि बुरे कर्म करने वालों को उच्च योनि तथा अच्छा कर्म करने वालों को अधम योनि प्राप्त होने लगे, तो ब्रह्म पर अन्यायी होने का दोष लगेगा। इससे सिद्ध हुआ कि जीव अपने कर्मानुसार ही श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट योनि को प्राप्त करता है और उसी के अनुरूप सुख-दु:ख आदि फल भोगों को भोगता है। स्मृतियों में भी जगह-जगह जीवों को अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दु:ख प्राप्त होने की बात कही गई है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है- '**कर्मण: सुकृतस्याहु: सात्त्विकं निर्मलं फलम्**' अर्थात् 'पुण्यकर्म का फल सात्त्विक एवं निर्मल है।' इन प्रमाणों से ब्रह्म में उक्त दोषों का अभाव सिद्ध होता है॥३४॥

उपर्युक्त सूत्र में कही गई बात पर आशंका प्रकट कर आचार्य उसका निराकरण प्रस्तुत करते हैं—

(१७०) न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्॥३५॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो, कर्माविभागात् = (जगत् की उत्पत्ति से पहले) जीव और उसके कर्मों का ब्रह्म से अविभाग था, न = इसलिए परमात्मा कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि करता है, यह कहना ठीक नहीं है, इति न = ऐसा नहीं है, अनादित्वात् = क्योंकि जीव और उनके कर्म अनादि हैं।

व्याख्या— उपनिषद् (छा० ६/२/१) में कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति से पहले तो एक मात्र सत् स्वरूप ब्रह्म ही था। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय भिन्न-भिन्न जीवों और उनके कर्मों का कोई विभाग नहीं था। ऐसी दशा में यह कहना कि ब्रह्म जगत् की विषम रचना में जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा करता है, असंगत है; क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व जब कर्मों का अस्तित्व ही नहीं, तो जगत् रचना में उनकी अपेक्षा कैसी? अत: ऐसे वैषम्य जगत् का कारण सर्वज्ञ ब्रह्म को नहीं कहा जा सकता।

सूत्रकार इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म के सन्दर्भ में ऐसी आशंका अयोग्य है; क्योंकि गत सूत्रानुसार विषम जगत् की ब्रह्म द्वारा रचना का आधार जीवों के शुभाशुभ कर्म ही हैं। यह मानना कि सृष्टि रचना के पूर्व जीवात्माओं के कर्म असंभव हैं, सर्वथा असंगत है। कारण यह है कि जीवात्मा का स्वरूप और उसके कर्म अनादि हैं। पुराने कर्मों का भोगा जाना और नये कर्मों का किया जाना, यह क्रम अनादि काल से जारी है। जिन कर्मों का फल भोग लिया जाता है, उनका तो क्षय हो जाता है, शेष संस्कार रूप से जीवात्माओं में अवस्थित रहते हैं। कर्मों का यह प्रवाह अनादि होने से अनवस्था दोष नहीं लगता। ऋग्वेद (१०/१९०/३) कहता है- '**सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' अर्थात् ब्रह्म ने पूर्व कल्प के समान ही सृष्टि रचना की। इससे सिद्ध होता है कि जीवों के संचित संस्कारों के अनुसार ही ब्रह्म उन्हें कर्मों में प्रेरित करता है। वह जीवों के स्वभाव एवं रूपादि को परिवर्तित नहीं करता। अस्तु, ब्रह्म में किसी प्रकार का दोषारोपण सिद्ध नहीं होता॥३५॥

अब शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि जीव और उसके कर्म अनादि हैं, इसमें प्रमाण क्या है? सूत्रकार इसका समाधान करते हैं—

(१७१) उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च॥३६॥

सूत्रार्थ— च = तथा, उपपद्यते = (जीव और उनके कर्मों का अनादि होना) युक्ति प्रमाण से सिद्ध है, च = और, उपलभ्यते अपि = श्रुति में भी ऐसा ही पाया जाता है।

व्याख्या— जीवात्मा स्वरूप से अनादि है। युक्ति एवं तर्क के आधार पर जीवात्मा के कर्म और उसका कार्य क्षेत्र- यह संसार अनादि सिद्ध होता है; क्योंकि यदि इनको अनादि नहीं माना जायेगा, तो जगत् की विषम रचना और जीवों को विविध सुख-दु:ख की प्राप्ति बिना कारण के माननी होगी, जो सर्वथा असंगत है। इससे

कार्य-कारण की व्यवस्था तथा सम्पूर्ण जगत् का व्यवहार प्रभावित होगा अथवा प्रलयकाल में ब्रह्म को प्राप्त हुए जीवों के पुनरागमन मानने का दोष या सभी जीवों के स्वयं मुक्त हो जाने का दोष स्वीकार करना होगा। इससे शास्त्र में वर्णित सभी साधन व्यर्थ सिद्ध होंगे, जो कि सर्वथा अनुचित है। जीव और उसके कर्मों के अनादि होने का संकेत शास्त्र में भी उपलब्ध होता है। '**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे**' (कठोपनिषद् १/२/१८) अर्थात् यह जीवात्मा नित्य, शाश्वत और पुरातन है तथा देह के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता। उक्त कथन के अनुसार यदि जीव अनादि है, तो उसके कर्म भी अनादि होने में क्या सन्देह है?॥३६॥

स्वपक्ष में अविरोध प्रमाणित करने के लिए आरम्भ किये हुए इस प्रथम पाद का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने अंतिम सूत्र कहा—

(१७२) सर्वधर्मोपपत्तेश्च॥३७॥

सूत्रार्थ— सर्वधर्मोपपत्तेः = सभी धर्मों की ब्रह्म में सङ्गति होने से, च = भी (यह मत ठीक है)।

व्याख्या— द्वितीय अध्याय के इस प्रथम पाद में स्मृति एवं तर्क निमित्तक उन विरोधों का समाधान किया गया, जो जगत् की रचना में अपेक्षित कारणों के विषय में प्रस्तुत किये गये। इस प्रकार यह प्रकरण सृष्टि रचना में अपेक्षित कारणों का निश्चय करता है। चेतन ब्रह्म इस जगत् का निमित्त कारण, नियन्ता व अधिष्ठाता है। परब्रह्म परमात्मा में सभी धर्मों की संगति है; क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वधर्मा, सर्वाधार और सब कुछ बनाने में समर्थ है। इसलिए वह सगुण भी है और निर्गुण भी, सम्पूर्ण जगत् व्यापार से रहित होकर भी वह सब कुछ करने वाला है। वह व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। इस प्रकार विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में कोई भी दोष अथवा विरोध नहीं है।

इस पाद के अन्त में आचार्य ने जीव और उनके कर्मों को अनादि बतलाकर इस जगत् की अनादि सत्ता एवं सत्कार्यवाद की सिद्धि की है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार ब्रह्म को मात्र निर्गुण, निराकार और निर्विशेष ही नहीं मानते, अपितु सर्वज्ञता आदि सब धर्मों (लक्षणों) से सम्पन्न भी मानते हैं॥३७॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

॥ अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

प्रथम पाद में सूत्रकार द्वारा मुख्य रूप से अपने पक्ष में प्रतीत होने वाले सम्पूर्ण दोषों का निराकरण करके यह सुनिश्चित कर दिया गया कि इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिशाली, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता ब्रह्म ही है। अब अन्य लोगों के द्वारा बताये गये जगत् कारणों को स्वीकारने में जो-जो दोष आते हैं; उनका प्रकटीकरण करते हुए अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए दूसरा पाद आरम्भ किया जाता है कि सांख्योक्त 'प्रधान' को जगत् का कारण मानना तर्क संगत नहीं है—

(१७३) रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥१ ॥

सूत्रार्थ— च = और, अनुमानम् = जो केवल अनुमान है, वह प्रधान; न = जगत् का कारण सिद्ध नहीं हो सकता; रचनानुपपत्तेः = क्योंकि उसके द्वारा नाना प्रकार की रचना सम्भव नहीं है।

व्याख्या— सांख्य मत वालों के द्वारा वर्णित 'प्रधान' या 'प्रकृति' को जगत् का कारण नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि वह चेतन नहीं, जड़ है। जड़ प्रकृति में रचना करने का अथवा सुव्यवस्था का ज्ञान नहीं होता। कब, कहाँ, किस वस्तु की आवश्यकता है, इस बात का विचार जड़ प्रकृति नहीं कर सकती, अतः उसके माध्यम से ऐसी विशिष्ट रचना नहीं प्रस्तुत की जा सकती, जिससे किसी की आवश्यकता पूर्ण हो सके। चेतनकर्त्ता की प्रेरणा के बिना जड़ वस्तु स्वयं कुछ करने में समर्थ भी नहीं है। जैसे जड़ रूप ईंट किसी भवन के निर्माण में दीवार में लगाई तो जाती है, पर वह ईंट चिनाई का कार्य नहीं कर सकती, वह कार्य तो चेतन रूप बुद्धियुक्त कुशल कारीगर ही कर सकता है। अथवा जैसे काष्ठ के घोड़े को सुख-दुःख आदि व्याप्त नहीं होता; क्योंकि सुख-दुःख का व्याप्त होना तो अनुभूति का विषय है और वह अनुभूति तो केवल चेतन जीव को ही हो सकती है। इस प्रकार मिट्टी, पत्थर, काष्ठादि जड़ पदार्थों में अपने-आप रचना करने की कोई शक्ति नहीं देखी जाती और न ही संवेदनात्मक अनुभूति पायी जाती है। अतः यह सिद्ध नहीं होता कि जड़ प्रधान इस विचित्र जगत् की सृष्टि का कारण है॥१ ॥

सूत्रकार अब दूसरी युक्ति से प्रधान कारणवाद का खण्डन करते हैं—

(१७४) प्रवृत्तेश्च ॥२ ॥

सूत्रार्थ— प्रवृत्तेः = सृष्टि रचना में जड़ प्रकृति का प्रवृत्त होना, च = भी (सिद्ध नहीं होता)।

व्याख्या— चेतन द्वारा ही जड़ वस्तु को किसी कार्य में प्रवृत्त किया जा सकता है, अन्यथा किसी प्रकार की रचना करना तो दूर, रचना कार्य के लिए जड़ प्रकृति में किसी चेतन की सहायता के बिना प्रवृत्ति भी सम्भव नहीं दिखती। यहाँ रथ और सारथि का उदाहरण उपयुक्त बैठता है; क्योंकि रथ जड़ है और सारथि चेतन। चेतन सारथि ही जड़ रथ को चलाने में प्रवृत्त करता है। अतः यह सिद्ध होता है कि जड़ 'प्रधान' द्वारा जगत् रचना का कार्य कदापि सम्भव नहीं है॥२ ॥

यहाँ पूर्वपक्षी द्वारा आशंका प्रकट की जाती है कि लोक में अनेक जड़ पदार्थों में स्वतः प्रवृत्ति होती है। बछड़े के लिए गाय के थनों में दूध स्वतः प्रवृत्त हो जाता है, जल स्वतः प्रवहमान रहता है। अतः जड़ में ऐसी ही प्रवृत्ति मानी जा सकती है। सूत्रकार उक्त दृष्टान्तों में भी चेतन का सहयोग दिखलाकर अपना पक्ष सिद्ध करते हैं—

(१७५) पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥३ ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो, पयोऽम्बुवत् = दूध और जल की तरह (जड़ प्रधान द्वारा जगत् रचना के लिए प्रवृत्त होना सम्भव है, तो), तत्रापि = उसमें भी (चेतन की ही प्रवृत्ति है)।

व्याख्या— दूध और जल आदि अचेतन वस्तुएँ चेतन की प्रेरणा से ही प्रेरित होकर अपने कार्य में प्रवृत्त होती हैं। यदि यह शङ्का करो कि अचेतन जल लोगों के उपकार के लिए स्वयं ही नदी-निर्झर आदि के रूप में

बहता रहता है अथवा अचेतन दूध बछड़े की पुष्टि के लिए स्वयं ही गाय के थन में उतर आता है, तो यह शङ्का व्यर्थ है; क्योंकि इन दृष्टान्त स्थलों में भी चेतन का सहयोग है। स्तनों में दूध की प्रवृत्ति, देह में चेतन आत्मा के रहने पर ही सम्भव है। माता के मृत देह से क्षीरपायी शिशु कभी दूध नहीं पा सकता। कुछ समय पूर्व दूध पिलाकर अचानक मर जाने वाली गाय के थनों में दूध की मात्रा रहने पर भी बच्चे के लिए उसके स्तनों में दूध उतरता नहीं देखा जाता। इससे यह प्रमाणित होता है कि दुग्ध स्राव में चेतन की प्रेरणा ही प्रवृत्त करती है।

इसी प्रकार जल तथा अन्य द्रव्य पदार्थ स्वभावतः निम्नानुगामी होते हैं। पदार्थों का ऐसा विशिष्ट स्वभाव, विश्व का संचालन, लोक-गति का नियंत्रण अव्यक्त चेतन ब्रह्म की प्रेरणा द्वारा ही होता है। बृहदारण्यक (३/७/४) में कहा गया है- '**अपोऽन्तरो यमयति**' अर्थात् जो जल के अन्दर रहने वाला है और उसके भीतर रहकर उसका नियमन करता है, ऐसा वह ब्रह्म है। आगे कहा- '**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दते** (बृ०उ० ३/८/९) अर्थात् हे गार्गि! इस अविनाशी चेतन तत्त्व ब्रह्म के प्रशासन में ही पूर्ववाहिनी तथा अन्य नदियाँ निरन्तर बह रही हैं। इन श्रुति वाक्यों से सिद्ध होता है कि समस्त जड़ वस्तुओं का संचालक चेतन ब्रह्म ही है। गाय के अयन में दूध उतरना, चेतन गौ के वात्सल्य और बछड़े के चूसने के कारण होता है। इसी प्रकार निचली सतह की ओर स्वभावतः बहने वाला जल लोगों के उपकार के लिए स्वयं उठकर ऊँची भूमि पर नहीं चला जाता; परन्तु चेतन ज्ञानवान् मनुष्य अपने प्रयत्न से जल प्रवाह को जिधर चाहें मोड़ सकते हैं। अस्तु, प्रत्येक प्रवृत्ति में चेतन की अपेक्षा सर्वत्र देखी जाती है, अतः किसी भी युक्ति से जड़ प्रधान का स्वतः सृष्टि रचना में प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती॥३॥

आचार्य प्रकारान्तर से प्रधानकारणवाद का खण्डन करते हैं—

(१७६) व्यतिरेकानवस्थितेश्च अनपेक्षत्वात्॥४॥

सूत्रार्थ— व्यतिरेकानवस्थितेः = प्रकृति के विपरीत भाव में अवस्थित न होने से, च = और, अनपेक्षत्वात् = प्रधान के अपेक्षा रहित होने से भी।

व्याख्या— जड़ प्रकृति का नियामक पृथक् न मानने से सांख्यमतावलम्बियों के अनुसार त्रिगुणात्मक 'प्रधान' के सिवा जगत् का कोई दूसरा कारण, प्रेरक या प्रवर्तक नहीं है। पुरुष उदासीन है, वह न तो 'प्रधान' का प्रवर्तक है, न निवर्तक। ऐसी अवस्था में जड़ प्रकृति कभी तो महत्तत्त्वादि विकारों के रूप में परिणत होता है, कभी नहीं होता है, यह कैसे युक्ति संगत होगा। यदि उसका स्वभाव जगत् की उत्पत्ति करना है, तो सुषुप्ति अथवा प्रलय कार्य में वह प्रवृत्त कैसे होगा? इस प्रकार जड़ प्रकृति रूप प्रधान जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता नहीं हो सकता। यह कार्य तो केवल परब्रह्म परमात्मा का ही है॥४॥

घास से दूध बनने की तरह जड़ तत्त्व स्वतः जगत् रूप में परिणत हो सकता है, शिष्य के इस कथन को असंगत सिद्ध करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१७७) अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्॥५॥

सूत्रार्थ— अन्यत्र = दूसरी जगह, अभावात् = वैसे परिणाम का अभाव होने के कारण, च = भी, न = नहीं सिद्ध होता, तृणादिवत् = तृण आदि के समान (प्रधान का जगत् के रूप में परिणत होना)।

व्याख्या— गौ द्वारा खाया गया तिनका, घास, पानी आदि खाद्य यदि बिना किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा के स्वतः दूध बन जाता है, तो बैल आदि नर पशुओं में भी वैसा ही परिणाम दृष्टिगोचर होना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता। अतः मानना होगा कि वहाँ कोई विशेष निमित्त अवश्य है, जिस कारण गौ, भैंस, बकरी आदि के पेट में गये हुए तृण आदि से ही दूध बनता है, बैल, भैंसा, बकरा आदि के पेट में गये तृण से नहीं। मादा पशुओं

में भी सदैव ऐसा नहीं होता, केवल प्रसूता मादा में ही ऐसा देखा जाता है, इससे सुनिश्चित होता है कि इसका निमित्त कोई विशिष्ट चेतन अवश्य है। अत: यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट चेतन के सहयोग के बिना जड़ पदार्थ का रूप परिवर्तन सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार जड़ प्रकृति का जगत् के रूप में परिणत न हो सकना स्पष्ट है ॥५ ॥

जड़ प्रधान में जगत् रचना की स्वाभाविक प्रवृत्ति का प्रकारान्तर से सूत्रकार समाधान करते हैं—

(१७८) अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६ ॥

सूत्रार्थ— अभ्युपगमे = स्वीकार कर लेने पर, अपि = भी, अर्थाभावात् = कोई प्रयोजन न होने से (यह मान्यता निरर्थक ही होगी)।

व्याख्या— यद्यपि चेतन की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति द्वारा सृष्टि की रचना आदि कार्य में प्रवृत्त होना कदापि सम्भव नहीं है, तथापि यदि ऐसा मान भी लें, कि स्वभावत: 'प्रधान' जगत् की रचना के कार्य में प्रवृत्त हो सकता है, तो इसके लिए कोई प्रयोजन नहीं दिखता; क्योंकि **'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य'** (सांख्य का० २१) में माना गया है कि पुरुष के दर्शन और मोक्ष के लिए प्रधान की प्रवृत्ति है, परन्तु उन्हीं की मान्यता के अनुसार पुरुष असङ्ग, चैतन्यमात्र, निष्क्रिय, निर्विकार, उदासीन, निर्मल तथा नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वभाव है। अत: उसके लिए दर्शन रूप भोग तथा उससे विमुक्ति रूप अपवर्ग दोनों की क्या आवश्यकता है ? फलत: सांख्य का मान्य प्रयोजन व्यर्थ ही है। इस प्रकार जड़ प्रधान की जगद्रचना के कार्य में स्वत: प्रवृत्ति की बात मानना निरर्थक है ॥६ ॥

आचार्य प्रकारान्तर से सांख्यमत की मान्यता को दोषयुक्त सिद्ध करते हैं—

(१७९) पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥७ ॥

सूत्रार्थ— पुरुषाश्मवत् = अंधे और पंगु पुरुषों तथा लोहे और चुम्बक के संयोग की भाँति (प्रकृति-पुरुष के संयोग से जड़ प्रकृति प्रवृत्त होती है), चेत् = यदि, इति = ऐसा कहो, तथापि = तो भी (सांख्यमत की सिद्धि नहीं होती)।

व्याख्या— जैसे पंगु और अंधे परस्पर मिलकर चल सकते हैं और गन्तव्य तक पहुँच सकते हैं; क्योंकि पंगु देख सकता है और अंधा चल सकता है। इस प्रकार पंगु अंधे के कंधे पर बैठकर मार्गदर्शन करता हुआ अभीष्ट स्थान पर ले जा सकता है, अथवा जैसे लोहे और चुम्बक का संयोग होने पर लोहे में क्रिया शक्ति आ जाती है, वैसे ही पुरुष और प्रकृति मिलकर सृष्टि रचना का कार्य करते हैं। यदि सांख्यवादियों की इस बात को मान भी लिया जाये, तो यह कहना अभीष्ट है कि पंगु और अंधे दोनों चेतन हैं। एक गमन शक्ति से रहित होने पर भी देखने की शक्ति रखता है तथा बुद्धियुक्त है, दूसरा देखने की शक्ति से हीन होने पर भी गमन शक्ति एवं बौद्धिक शक्ति से सम्पन्न है। एक का प्रेरणा संकेत समझकर दूसरा उसके अनुसार गतिमान् होता है, तभी गन्तव्य तक पहुँचता है, अत: यहाँ चेतन का सहयोग स्पष्ट ही है। इसी प्रकार लोहे और चुम्बक को नजदीक लाने का कार्य चेतन पुरुष ही करेगा। चेतन पुरुष के सहयोग के बिना प्रथम तो लोहे को चुम्बक की समीपता प्राप्त नहीं होती, समीपता प्राप्त होने पर भी दोनों के एक दूसरे से सट जाने के कारण लोहे में अभीष्ट क्रियाशक्ति उत्पन्न नहीं होती, उक्त दोनों ही कार्यों में चेतन पुरुष का बौद्धिक व क्रियात्मक सहयोग अपेक्षित होता है। अत: इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि चेतन की प्रेरणा होने से ही अचेतन प्रकृति सृष्टि कार्य में प्रवृत्त हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥७ ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार प्रधान कारणवाद को निरस्त करने के लिए दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

(१८०) अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

सूत्रार्थ— अङ्गित्वानुपपत्तेः = (सत्त्व, रज, तम गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष रूप) अंग और अंगी भाव सिद्ध न होने से, च = भी (प्रधान को जगत् का कारण नहीं मान सकते)।

व्याख्या— सांख्यमत में तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम ही 'प्रधान' है। यदि गुणों की समान अवस्था को स्वाभाविक माना जाये, तब तो कोई गुण किसी गुण का अंगी नहीं होगा। अतएव गुणों में विषमता न होने के कारण अंग और अंगी के भाव की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि गुणों में ह्रास होने पर घटे हुए गुण को अंग और गुणों में वृद्धि से बढ़े हुए गुण को अंगी मानते हैं। इस प्रकार यदि गुणों की विषमता को ही स्वाभाविक माना जाये, तब तो सदैव जगत् की सृष्टि का ही क्रम चलता रहेगा, प्रलय कभी होगा ही नहीं। यदि पुरुष की प्रेरणा से प्रकृति के गुणों में क्षोभ मान लें, तब तो पुरुष को असङ्ग और निष्क्रिय मानना नहीं बन सकेगा। यदि परमात्मा को प्रेरक माना जाये, तो यह ब्रह्म कारणवाद को ही स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार सांख्यमत के अनुसार गुणों की विषमता को सृष्टि का कारण नहीं मान सकते। अतः प्रधान को जगत् का कारण मानना असङ्गत है॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है कि यदि अन्य तरीकों से गुणों की साम्यावस्था भंग होकर प्रकृति के द्वारा जगत् की उत्पत्ति होती है, ऐसा मान लिया जाये, तो क्या हानि है? आचार्य ने समाधान किया-

(१८१) अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्॥९॥

सूत्रार्थ— अन्यथा = अन्य प्रकार से, अनुमितौ = अनुमान करने पर, च = भी, ज्ञशक्ति वियोगात् = प्रधान में ज्ञान-शक्ति के अभाव के कारण (रचना कार्य सम्भव नहीं है)।

व्याख्या— यदि गुणों की विषमता का होना काल आदि अन्य कारणों से भी मान लिया जाये, तो भी प्रधान में ज्ञान शक्ति का अभाव तो है ही। इसलिए उसके द्वारा बुद्धिपूर्वक कोई रचना नहीं हो सकती; क्योंकि ज्ञान शक्ति के बिना किसी प्रकार की रचना या निर्माण कार्य असम्भव होता है। जिस प्रकार घर, वस्त्र एवं घट आदि जड़ वस्तुओं का निर्माण कोई बुद्धिमान् चेतन कर्त्ता ही कर सकता है, उसी प्रकार अनन्त-असीम ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत कोटि-कोटि जीव समूहों के विविध शरीर एवं वृक्ष-वनस्पतियों-अन्नादि की बुद्धिपूर्वक होने वाली रचना जड़-प्रकृति के द्वारा सम्भव नहीं है। ऐसी विशाल, सर्वाङ्ग सुन्दर एवं सर्वोत्कृष्ट रचना तो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ एवं सनातन परब्रह्म की सत्ता द्वारा ही शक्य है। अतः जड़ प्रधान को जगत् का कारण मानना नितान्त असङ्गत है॥९॥

सांख्य दर्शन की असमीचीनता बताते हुए सूत्रकार अब प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं-

(१८२) विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्॥१०॥

सूत्रार्थ— विप्रतिषेधात् = परस्पर के विरोधी कथन से, च = भी, असमञ्जसम् = सांख्यदर्शन समीचीन नहीं है।

व्याख्या— सांख्य शास्त्र के अनेक स्थलों में परस्पर विरोधी बातों का वर्णन मिलता है। जैसे- '**असङ्गोऽयं पुरुष इति**' (सां०सू० १/१५) अर्थात् 'पुरुष असङ्ग है' और '**निष्क्रियस्य तदसम्भवात्**' (१/४९) में उसे निष्क्रिय कहा है। फिर '**दृष्टत्वादिरात्मनः**' (२/२९) और '**भोक्तृभावात्**' (१/१४३) कहकर उसी को प्रकृति का द्रष्टा और भोक्ता बतलाया '**तदयोगस्तद्योगादृते**' (१/१९) अर्थात् प्रकृति के साथ उसका संयोग तथा '**पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थे तथा प्रधानस्य**' (सांख्यकारिका २१) पुरुष के लिए भोग और मोक्ष प्रदान करने वाली प्रकृति ही है, ऐसा कहा, फिर प्रकृति और पुरुष के नित्य पार्थक्य के ज्ञान से दुःख का

अभाव ही मोक्ष है। [**विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ** (सां०सू० ३/८४)], ऐसा मुक्ति का स्वरूप मानना, इत्यादि कई परस्पर विरुद्ध बातों के कारण सांख्यदर्शन समीचीन (निर्दोष) नहीं माना जा सकता है ॥१०॥

उपर्युक्त दस सूत्रों में सांख्यशास्त्र की मान्यता को असंगत सिद्ध करने के अनन्तर अब वैशेषिकों के परमाणुवाद का निराकरण करने एवं तत्सम्बन्धी मान्यता को अनुपयुक्त सिद्ध करने के उद्देश्य से सूत्रकार दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं-

(१८३) महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

सूत्रार्थ— ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् = ह्रस्व (द्वयणुक) और परिमण्डल (परमाणु) से, महद्दीर्घवत् = महत् एवं दीर्घ (त्र्यणुक) की उत्पत्ति बताने के समान, वा = ही (वैशेषिकों की सब बातें असङ्गत) हैं।

व्याख्या— परमाणुकारणवादी वैशेषिकों की मान्यता है कि चेतन ब्रह्म को जगत् का कारण मानने से परब्रह्म में विद्यमान चैतन्य गुण का सृष्टि में समवाय सम्बन्ध से रहना आवश्यक है (क्योंकि एक द्रव्य सजातीय दूसरे द्रव्य को और एक गुण सजातीय दूसरे गुण को उत्पन्न करता है) परन्तु सम्पूर्ण सृष्टि में चैतन्य गुण नहीं पाया जाता, अतः चेतन ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता। परमाणु ही जगत् के कारण हो सकते हैं। समाधान से पूर्व परमाणुवाद की प्रक्रिया का उल्लेख यहाँ उचित होगा। परमाणु के चार भेद हैं- पार्थिव परमाणु, जलीय परमाणु, तेजस परमाणु तथा वायवीय परमाणु। ये परमाणु नित्य, निरवयव तथा रूपादि गुणों से युक्त हैं। इनके परिमाण (माप) को परिमाण्डल्य कहते हैं। प्रलयकाल में सम्पूर्ण परमाणु पृथक्-पृथक् एवं क्रियाहीन स्थिति में रहते हैं। अदृष्ट या ईश्वर की इच्छा तथा पाप-पुण्यमय जीवों की संगति से परमाणु में आरंभ के अनुकूल क्रिया होने से विभाग होता है। सृष्टि काल में कार्य सिद्धि के लिए परमाणु तो समवायिकारण बनते हैं, उनका परस्पर संयोग असमवायिकारण होता है और अदृष्ट की इच्छा आदि उसमें निमित्त कारण बनते हैं। उस समय ईश्वर की इच्छा से प्रथम कर्म वायवीय परमाणुओं में प्रकट होता है, फिर उनका एक दूसरे से संयोग होता है। तब दो परमाणु संयुक्त होकर एक द्वयणुक, तीन द्वयणुक मिलकर त्र्यणुक और चार त्र्यणुक मिलकर चतुरणुक की उत्पत्ति होती है। इस क्रम से परमाणुओं का संयोग होते-होते वायवीय परमाणुओं से वायु तत्त्व प्रकट होता है और वह आकाश में गमनशील हो जाता है। इसी प्रकार तैजस परमाणुओं से अग्नि की उत्पत्ति होती है और वह प्रज्वलित होने लगता है। जलीय परमाणुओं से जल का महासागर प्रकट होकर उत्ताल लहरों से युक्त दिखाई देता है तथा पार्थिव परमाणुओं से इस विशाल पृथिवी की उत्पत्ति होती है, मिट्टी और प्रस्तर से युक्त इसका स्वरूप है। इस प्रकार कारण के गुणों से ही कार्य के गुण वस्त्र में वैसे ही गुण प्रकट होते हैं। जैसे रंगों के काले,पीले,नीले आदि गुण वस्त्र में वैसे ही गुण प्रकट करते हैं, वैसे ही परमाणुओं के शुक्ल आदि गुणों से ही द्वयणुकगत शुक्ल आदि गुण उत्पन्न होते हैं। द्वयणुक के उत्पादक दो परमाणु उसमें अणुत्व और ह्रस्वत्व इन दो परिमाणान्तरों का आरम्भ करती है; परन्तु विभिन्न परमाणुओं का पृथक्-पृथक् परिमाण द्वयणुक में दूसरे परिमाण्डल्य को प्रकट नहीं करता; क्योंकि वैसा करने पर वह कार्य पहले से भी अत्यन्त सूक्ष्म होने लगेगा। इसी प्रकार प्रलयकाल में ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में कर्म आरम्भ होता है, इस कारण उनके पारस्परिक संयोग का नाश होता है, फिर द्वयणुक आदि का नाश होते-होते पृथिवी आदि का भी नाश हो जाता है।

वैशेषिकों की प्रक्रिया का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यदि कारण के ही गुण कार्य में प्रकट होते हैं, तब तो परमाणु का परिमण्डल अर्थात् अति सूक्ष्मता का गुण द्वयणुक में भी प्रकट होना उचित है, पर ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि परमाणुवाद से जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। वैशेषिकों के कथनानुसार दो परमाणु से ह्रस्व गुण विशिष्ट द्वयणुक की उत्पत्ति होती है और ह्रस्व द्वयणुकों से महत्

दीर्घ परिमाणवाले त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार ऊपर बतायी हुई तथा अन्य कही जाने वाली अवैशेषिकों की मान्यताएँ असङ्गत हैं॥११॥

गत सूत्र में परमाणु तथा द्वयणुक से यथाक्रम द्वयणुक और त्र्यणुक की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया, पर यह उत्पत्ति किस प्रकार होती है तथा इसमें क्या दोष हैं, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार आगे कहते हैं-

(१८४) उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ॥१२॥

सूत्रार्थ— उभयथा = दोनों प्रकार से, अपि = भी, कर्म = परमाणुओं में कर्म का होना, न = सिद्ध नहीं होता, अतः = इसलिए, तदभावः = परमाणु संयोग से जगत् का उत्पन्न होना संभव नहीं है।

व्याख्या— परमाणुवादियों का कथन कि सृष्टि के पूर्व परमाणु निश्चल रहते हैं, उनमें कर्म उत्पन्न होकर परमाणुओं का संयोग होता है, जिससे सृष्टि की उत्पत्ति होती है, उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार सूत्रकार कहते हैं कि परमाणुओं में किसी निमित्त के बिना कर्म का संचार स्वयं ही हो जाता है, ऐसा मान लें, तो यह असम्भव है; क्योंकि वैशेषिकों के मत में प्रलयकाल में परमाणु निश्चल माने गये हैं। यदि इस प्रकार मानें कि जीवों के अदृष्ट कर्म-संस्कारों से परमाणुओं में कर्म का संचार हो जाता है, तो यह भी संभव नहीं है; क्योंकि जीवों का अदृष्ट तो परमाणुओं में न होकर स्वयं उन्हीं में रहता है, अतः वह परमाणुओं में कर्म का संचार नहीं कर सकता। इससे सिद्ध होता है कि उक्त दोनों प्रकार से ही परमाणुगत प्रारम्भिक कर्म एवं उनके संयोग से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती॥१२॥

अब आचार्य परमाणुकारणवाद के निराकरण हेतु अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हैं-

(१८५) समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

सूत्रार्थ— समवायाभ्युपगमात् = परमाणुवाद में समवाय सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है, इसलिए; च = भी (परमाणु कारणवाद सिद्ध नहीं हो सकता); साम्यात् = कारण और कार्य की भिन्नता के समान समवाय और समवायी में भी भिन्नता है, इसलिए; अनवस्थितेः = अनवस्था दोष के प्राप्त हो जाने पर समवाय की अवस्था न रहेगी।

व्याख्या— परमाणुवादियों की मान्यता है कि अलग-अलग रह सकने वाली वस्तुओं में परस्पर संयोग सम्बन्ध होता है और अलग-अलग न रह सकने वाली वस्तुओं में समवाय सम्बन्ध होता है। जैसे रस्सी और घट अलग-अलग रहकर भी संयोग-सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उसी प्रकार तन्तु और वस्त्र एक होकर भी अलग-अलग दिखाई देते हैं, अतः इनमें समवाय-सम्बन्ध ही स्थापित हो सकता है। यद्यपि कारण से कार्य अत्यधिक पृथक् है, तो भी वैशेषिकों के अनुसार समवायिकारण और कार्य का पारस्परिक सम्बन्ध 'समवाय' बताया गया है। इसके अनुसार दो अणुओं से उत्पन्न द्वयणुक कार्य उन अणुओं से भिन्न होने पर भी समवाय-सम्बन्ध के द्वारा उनसे जुड़ाव होता है, ऐसा मान लेने पर जिस तरह द्वयणुक उन-उन अणुओं से पृथक् होता है, उसी तरह 'समवाय' भी समवायी से पृथक् है। भेद की दृष्टि से दोनों में समानता है। अतः जिस प्रकार द्वयणुक समवाय सम्बन्ध के द्वारा उन दो अणुओं से जुड़ा माना गया है, उसी प्रकार समवाय भी अपने समवायी के साथ नये समवाय सम्बन्ध द्वारा जुड़ा माना जा सकता है। इस प्रकार शृंखलाबद्ध समवाय सम्बन्ध चलता रहेगा और एक अंतहीन परम्परा चलते रहने के कारण अनवस्था का दोष उपस्थित होगा। इस प्रकार समवाय सम्बन्ध सिद्ध न हो सकने के कारण परमाणुओं द्वारा जगत् की सृष्टि का होना कदापि सम्भव नहीं है॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है कि क्यों न यह मान लें कि सृष्टि एवं प्रलय के निमित्त परमाणुओं में क्रिया स्वभावतः होती है। इस प्रकार सूत्रकार समाधान देते हैं-

(१८६) नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

सूत्रार्थ— च = तथा (परमाणुओं में प्रवृत्ति या निवृत्ति का कार्य स्वाभाविक मानने पर), नित्यम् = सदा, एव = ही, भावात् = सृष्टि या प्रलय की सत्ता बनी रहेगी।

व्याख्या— परमाणुवादी परमाणु को नित्य मानते हैं, अत: उनका जैसा भी स्वभाव मानें, वह नित्य अर्थात् सदा रहने वाला होगा। यदि उन्हें प्रवृत्तिमूलक मानें, तब तो सतत सृष्टि होती रहेगी, कभी भी प्रलय नहीं होगा। यदि निवृत्तिमूलक स्वभाव मानें, तब तो सदा संहार ही बना रहेगा, सृष्टि नहीं होगी और यदि दोनों ही धर्म उनमें स्वाभाविक मानें जायें, तो यह किसी प्रकार संगत नहीं जान पड़ता; क्योंकि एक ही तत्त्व में परस्पर विरोधी दो स्वभाव नहीं रह सकते। इस प्रकार यह परमाणु कारणवाद सर्वथा अयुक्त सिद्ध होता है॥१४॥

अब आचार्य परमाणुओं की नित्यता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए परमाणुकारणवाद को व्यर्थ सिद्ध करते हैं—

(१८७) रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥१५॥

सूत्रार्थ— च = और, रूपादिमत्त्वात् = परमाणु को रूप, रस आदि गुणों वाला मानने से, विपर्यय: = उनमें नित्यत्व के विपरीत अनित्यव का दोष, दर्शनात् = देखा जाता है।

व्याख्या— परमाणुवादियों के मत में परमाणु नित्य होने के साथ-साथ रूप, रस आदि गुणों से युक्त भी माने गये हैं, परन्तु रूपादि गुणों से युक्त वस्तुएँ नित्य नहीं हो सकतीं; क्योंकि रूप आदि गुण वाली घट, पट इत्यादि सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं, उनकी अनित्यता प्रत्यक्ष देखी जाती है। इस प्रकार रूप, रसादि के कारण परमाणुओं में नित्यता के विपरीत अनित्यता का दोष आरोपित होता है। यदि उन्हें रूप, रस आदि से रहित मानें, तो उनके कार्य में रूपादि गुण नहीं होने चाहिए। इसके विपरीत 'रूपादिमन्तो नित्याश्च' की सिद्धि नहीं होगी। इस प्रकार परमाणुवाद की निरर्थकता स्पष्ट सिद्ध होती है॥१५॥

परमाणु की नित्यता में अन्य दोष दिखाते हुए आचार्य गत सूत्र में प्रतिपादित अर्थ की पुष्टि करते हैं—

(१८८) उभयथा च दोषात् ॥१६॥

सूत्रार्थ— उभयथा = दोनों प्रकार से (न्यूनाधिक गुणों से युक्त अथवा गुणरहित मानें) च = ही, दोषात् = दोष आता है, अत: (परमाणुवाद सिद्ध नहीं होता)।

व्याख्या— पृथिवी आदि भूतों में से किसी में अधिक और किसी में कम गुण विद्यमान होते हैं। यथा पृथिवी में गन्ध, रस, रूप व स्पर्श अर्थात् चारों गुण रहते हैं। जल में गन्ध को छोड़कर शेष तीन, तेज में रूप व स्पर्श तथा वायु में केवल स्पर्श गुण रहता है। इस आधार पर उनके आरम्भिक परमाणुओं में भी न्यूनाधिक गुणों की स्थिति माननी होगी। ऐसी अवस्था में यदि परमाणुओं को अधिक गुणों से युक्त माना जाये, तो सभी कार्यों में उनके समान गुण प्रकट होने से भी द्रव्य अपने-अपने धर्मों को छोड़ देंगे। उस अवस्था में जल में भी गन्ध और तेज में भी गन्ध एवं रस उत्पन्न हो सकता है। अधिक गुण वाली पृथिवी में स्थूलता का गुण देखा जाता है, यही गुण कारणभूत परमाणु में मानना पड़ेगा। यदि परमाणु में न्यूनतम अर्थात् एक-एक गुण ही मानें, तब तो सभी स्थूल भूतों में एक-एक गुण ही उत्पन्न होना चाहिए। उस दशा में स्पर्श धर्म वाली वस्तुएँ स्पर्शहीन हो जायेंगी, उनमें रूप, रस आदि गुण भी नहीं रहेंगे; क्योंकि उनके परमाणुओं में एक से अधिक गुण का अभाव है। यदि परमाणुओं में गुणों का सर्वथा अभाव मानें, तो उनके कार्यों में भी गुणहीनता होगी। इस प्रकार परमाणुवाद की सार्थकता किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती है॥१६॥

अब आचार्य परमाणुवाद को अग्राह्य बताते हुए इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

(१८९) अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

सूत्रार्थ— अपरिग्रहात् = किसी भी मत द्वारा परमाणुवाद को ग्रहण नहीं किया गया है, इसलिए; च = भी, अत्यन्तम् = सर्वथा, अनपेक्षा = उपेक्षा के योग्य है।

व्याख्या— प्रधानकारणवाद की कुछ बातों को अनेक शिष्ट विद्वानों ने अंश रूप में स्वीकार किया है; क्योंकि उसमें अंशत: सत्कार्यवाद का निरूपण किया गया है; परन्तु परमाणु-कारणवाद के वेद-विरुद्ध होने के कारण किसी भी सत्पुरुष ने इसे स्वीकार नहीं किया है। इस कारण भी यह सर्वथा उपेक्षणीय है॥१७॥

विगत सात सूत्रों में परमाणुवाद की निरर्थकता सिद्ध करने के पश्चात् अब बौद्धों के क्षणिकवाद का निराकरण करने के उद्देश्य से सूत्रकार द्वारा यह प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है—

(१९०) समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥

सूत्रार्थ— उभयहेतुके = दोनों प्रकार के (परमाणुहेतुक बाह्य समुदाय तथा स्कन्धहेतुक आभ्यन्तर समुदाय), समुदाये = समुदायों में, अपि = भी, तदप्राप्तिः = उसकी सिद्धि नहीं होती है।

व्याख्या— बौद्ध मत के चार अनुयायी - वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक परस्पर किञ्चित् बुद्धि भेद के कारण चार वर्गों में बँट गये हैं। इनमें से वैभाषिक और सौत्रान्तिक ये दोनों ही बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकारते हैं, अन्तर केवल इतना है कि वैभाषिक प्रत्यक्ष दीखने वाले बाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं और सौत्रान्तिक विज्ञान से अनुमित बाह्य पदार्थों की सत्ता को स्वीकारते हैं। योगाचार के मत में वस्तु मात्र असत् है, बाह्य पदार्थ स्वप्न में दिखाई देने वाली वस्तुओं की तरह मिथ्या है, एक मात्र विज्ञान ही सत् है। माध्यमिक मानते हैं कि सब कुछ शून्य है। उनकी मान्यता के अनुसार दीपक की लौ की तरह संस्कारवश क्षणिक विज्ञान की धारा ही बाह्य पदार्थों के रूप में दिखाई देती है। जैसे दीपशिखा के हर क्षण नष्ट होने के बावजूद एक धारा-सी बनी रहने के कारण उसकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार दृश्यमान पदार्थ सतत नष्ट हो रहे हैं; परन्तु उनकी विज्ञान धारा मात्र प्रतिभाषित होती है। तेल के खत्म हो जाने पर जिस प्रकार दीपशिखा बुझ जाती है, उसी प्रकार संस्कार नष्ट हो जाने पर विज्ञान धारा भी समाप्त हो जाती है। योगाचार मत के अनुसार इस प्रकार शून्यता की प्राप्ति ही अपवर्ग या मुक्ति कहलाता है। बौद्धमत के लोग इन चारों के समन्वय को भावना चतुष्टय कहते हैं।

रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार-ये पाँच स्कन्ध हैं। पृथिवी आदि चार भूत तथा शरीर, इन्द्रिय और विषय- ये 'रूप स्कन्ध' कहलाते हैं। पृथिवी के परमाणु रूप, रस, गंध और स्पर्श इन चार गुणों से संयुक्त तथा कठोर स्वभाव से युक्त होते हैं। जलीय परमाणु गंध के अतिरिक्त अन्य तीन गुणों से युक्त तथा स्निग्ध या मृदु स्वभाव वाले होते हैं। अग्नि के परमाणु रूप और स्पर्श गुणों से युक्त व उष्ण स्वभाव वाले तथा वायु के स्पर्श गुण से युक्त एवं गमनशील होते हैं। उक्त सभी भूतों के परमाणु अपने-अपने गुणों के अनुरूप संगठित होकर पृथिवी, जल, अग्नि एवं वायु का आकार ग्रहण करते हैं। पुन: ये चारों शरीर, इन्द्रिय और विषय के रूप में केन्द्रीभूत होते हैं। इस प्रकार ये चार प्रकार के क्षणभंगुर परमाणु भूत-भौतिक संघात के कारण बनते हैं। यही 'रूप स्कन्ध' या बाह्य समुदाय के रूप में जाना जाता है। 'विज्ञानस्कन्ध' आभ्यन्तरिक विज्ञान के प्रवाह को कहते हैं। इसी से 'मैं' की प्रतीति होती है तथा सम्पूर्ण लोक व्यवहार का आधार भी यही है। इसी को कर्ता, भोक्ता और आत्मा कहते हैं। सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वों की अनुभूति 'वेदनास्कन्ध' कहलाती है। उपलक्षण से जो वस्तुओं की प्रतीति कराई जाती है, उसी का नाम 'संज्ञा स्कन्ध' है। जैसे ध्वज से गृह की और दण्ड से पुरुष की आदि। राग, द्वेष, मोह, मद, मात्सर्य, भय, शोक, विषाद आदि चित्त के जो संस्कार हैं, उन्हें 'संस्कार स्कन्ध' कहते हैं। सभी प्रकार के व्यवहारों का आश्रय बनकर अंत:करण में संगठित यह चतु:स्कन्ध समुदाय या चित्त-चैत्तिक वर्ग ही 'आभ्यन्तर समुदाय' कहलाता है। विज्ञान स्कन्धरूप चित्त का नाम ही

आत्मा है; शेष तीन स्कन्ध 'चैत्य' अथवा 'चैत्तिक' हैं। भूत भौतिक तथा चित्त और चैत्य की संगति से संसार यात्रा का निर्वाह होता है। इन दोनों समुदायों के अतिरिक्त आकाश, आत्मा आदि किसी भिन्न वस्तु की सत्ता ही नहीं है। ये दोनों समुदाय ही समस्त लोक-व्यवहार के निर्वाहक हैं। इनसे ही समस्त क्रिया-कलाप चल जाता है, अतः नित्य 'आत्मा' को मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

यदि इस प्रकरण का विवेचन करें, तो बौद्धों के उक्त जगदात्मक समुदाय की सत्ता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि समुदाय के अन्तर्गत जो वस्तुएँ हैं, वे सब अचेतन एवं पारस्परिक अपेक्षा से शून्य हैं। अतः उनके द्वारा संघात नहीं बन सकता। परमाणु आदि सभी वस्तुएँ बौद्धों की ही मान्यतानुसार क्षणिक हैं, तो फिर प्रतिक्षण परिवर्तनशील परमाणु और पृथिवी आदि भूत इस समुदाय या संघात के रूप में संगठित कैसे हो सकते हैं, किस प्रकार उनका संघात बनना संभव हो सकता है अर्थात् किसी प्रकार और कभी भी सम्भव नहीं। इसलिए बौद्धों की कल्पना सर्वथा युक्ति विरुद्ध होने के कारण मानने योग्य नहीं है॥१८॥

पूर्वपक्षी की तरफ से प्रस्तुत संभावित समाधान का स्वतः उल्लेख करते हुए सूत्रकार उसका प्रतिवाद करते हैं—

(१९१)　इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्॥१९॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो; इतरेतरप्रत्ययत्वात् = परस्पर एक दूसरे का कारण होने से, अविद्या, संस्कार, विज्ञान आदि से समुदाय की सिद्धि हो सकती है, इति न = तो यह कहना ठीक नहीं है, उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् = क्योंकि ये अविद्या आदि उत्तरोत्तर की उत्पत्तिमात्र में ही निमित्त माने गये हैं (समुदाय या संघात में नहीं)।

व्याख्या— बौद्ध मत के अनुसार क्षणिक वस्तुओं में नित्यता और स्थिरता का जो भ्रम है, वही 'अविद्या' कहलाता है। यह अविद्या ही सांसारिक विषयों में राग आदि 'संस्कार' उत्पन्न करने का हेतु बनती है। संस्कार द्वारा गर्भस्थ शिशु में 'आलय' नामक विज्ञान उत्पन्न होता है। उस आलय-विज्ञान से शरीर एवं समुदाय के कारण भूत पृथिवी आदि चार भूत होते हैं। नाम का आश्रय होने से वही 'नाम' भी कहलाता है। पृथिवी आदि चार भूत, नाम, रूप, शरीर, विज्ञान और धातु - ये छः जिनके आश्रय हैं, उन इन्द्रियों के समूह को 'षडायतन' कहा जाता है। नाम, रूप और इन्द्रियों के आपसी सम्बन्ध को 'स्पर्श' कहते हैं। उससे सुख-दुःख आदि वेदना की उत्पत्ति होती है। और फिर क्रमशः तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिवेदना तथा दुर्मनस्ता (मन की उद्विग्नता) आदि भी इसी तरह से उपजते हैं। इसके पश्चात् फिर अविद्या आदि के क्रम से पूर्वोक्त सभी बातों का प्रकटीकरण होता रहता है। घटीयन्त्र (रहट) की भाँति यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है, इससे समुदाय सिद्धि की बात कहना पूर्णतया भ्रमात्मक है। परिवर्तनशील को स्थिर मानने वाली युक्ति उचित नहीं मालूम पड़ती। अतः अविद्या एवं उससे उत्पन्न रागादि के उद्भव से संघातपूर्वक सृष्टि की कल्पना किसी तरह सिद्ध नहीं होती॥१९॥

पूर्व सूत्र में अविद्या आदि को संस्कार आदि की उत्पत्ति का निमित्त मानते हुए, उनसे समुदाय की असिद्धि बतायी गई। अब यह सिद्ध किया जाता है कि अविद्या आदि हेतु संस्कार आदि भावों के उद्भव में भी निमित्त नहीं हो सकते—

(१९२)　उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्॥२०॥

सूत्रार्थ— च = और, उत्तरोत्पादे = बाद में होने वाले भाव के उद्भव काल में, पूर्वनिरोधात् = पूर्वक्षण में उपस्थित कारण का नाश हो जाता है, इसलिए (पूर्वोक्त अविद्या आदि हेतु, संस्कार आदि उत्तरोत्तर भावों के उद्भव में हेतु नहीं हो सकते)।

व्याख्या— तन्तु से पट और मिट्टी से घट उत्पन्न होते ही तन्तु और मिट्टी नष्ट होते नहीं देखे जाते, अपितु तन्तु और मिट्टी का अन्वय पट और घट में प्रत्यक्ष देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य अपने

कारण से सम्बद्ध रहता हुआ ही उत्पन्न होता है; किन्तु बौद्ध मत में समस्त पदार्थों को प्रतिक्षण नाशवान् माना गया है, अत: इस मत से कार्य में कारण की सम्बद्धता सिद्ध नहीं होगी। जिस क्षण कार्य की उत्पत्ति होगी, उसी क्षण कारण का नाश हो जायेगा। इस प्रकार कार्य-कारण भाव की सिद्धि न होने से भी संघात द्वारा जगत् की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है कि यदि कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति मान ली जाती है, तो क्या आपत्ति है? सूत्रकार इसी जिज्ञासा का समाधान यहाँ करते हैं—

(१९३) असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा॥२१॥

सूत्रार्थ— असति = कारण के न रहने पर (भी कार्य की उत्पत्ति मानने से), प्रतिज्ञोपरोध: = प्रतिज्ञा भङ्ग होगी, अन्यथा = नहीं तो, यौगपद्यम् = कारण-कार्य दोनों की एक ही काल में सत्ता माननी होगी।

व्याख्या— बौद्ध मत में चार प्रकार से विज्ञान की उत्पत्ति स्वीकार की गई है। इन चारों के 'प्रत्यय' युक्त नाम इस प्रकार हैं- अधिपति, सहकारि, समनन्तर और आलम्बन। ये क्रमश: इन्द्रिय, प्रकाश, मनोयोग और विषय के पर्याय माने गये हैं। इन चारों हेतुओं की संगति से ही विज्ञान का उत्पन्न होना कहा गया है। यदि बिना कारण के कार्य का उत्पन्न होना माना जाये, तो स्कन्ध रूप कारण से समुदाय की उत्पत्ति होने वाली प्रतिज्ञा भङ्ग होती है और यदि ऐसा नहीं मानते हैं, तो कारण और कार्य दोनों की सत्ता एक ही काल में माननी होगी, जो सम्भव नहीं। अत: बौद्धमत किसी प्रकार भी समीचीन अथवा ग्रहणीय नहीं है॥२१॥

बौद्ध मतावलम्बियों के अनुसार प्रतिसंख्या-निरोध, अप्रतिसंख्या-निरोध तथा आकाश- इनके अलावा सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। निरोध और आकाश तो कोई वस्तु हैं ही नहीं, ये अभाव मात्र हैं। विनाश का बोधक होने की वजह से निरोध तो अभाव है ही, आकाश भी आवरण का अभाव मात्र ही है, जिसका निराकरण २४ वें सूत्र में होगा। यहाँ आचार्य बौद्धों द्वारा मान्य दोनों प्रकार के निरोधों का निराकरण करने के उद्देश्य से कहते हैं—

(१९४) प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्॥२२॥

सूत्रार्थ— प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्या निरोधाप्राप्ति: = प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध की प्राप्ति नहीं हो सकती, अविच्छेदात् = क्योंकि प्रवाह का विच्छेद नहीं होता।

व्याख्या— बौद्धों में किसी भाव के प्रतिकूल बुद्धि 'प्रतिसंख्या' तथा ऐसी बुद्धि से जो भाव (वस्तु) का विनाश होता है, वह 'प्रतिसंख्या-निरोध' है। इसके विपरीत भावों का जो बिना किसी निमित्त के स्वाभाविक विनाश होता रहता है, उसका नाम अप्रतिसंख्या-निरोध है। अविच्छेद के कारण उपर्युक्त दोनों निरोध असम्भव हैं; क्योंकि वे समस्त पदार्थों को प्रतिक्षण नाशवान् मानते हैं और असत् कारणों से 'सत्' कार्य की उत्पत्ति भी प्रतिक्षण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार विनाश और उत्पत्ति का क्रम निरन्तर चलते रहने से किसी भी निरोध की सिद्धि नहीं होगी। फिर 'सत्' वस्तु के शून्य रूप से होने को विनाश कहा जाये, तो प्रत्येक क्षण शून्य ही दिखाई दे; परन्तु ऐसा कभी नहीं देखा जाता। अत: बौद्धमत किसी भी प्रकार उपादेय सिद्ध नहीं होता॥२२॥

बौद्ध मतावलम्बियों के अनुसार सभी पदार्थ क्षणिक एवं असत्य होते हुए भी भ्रान्तिरूप अज्ञान के कारण स्थिर एवं सत्य जान पड़ते हैं। ज्ञान के द्वारा अज्ञान का अभाव होने के कारण सबका अभाव हो जाता है। इस प्रकार प्रतिसंख्या-निरोध की सिद्धि होती है। इस बात का निराकरण करने हेतु आचार्य अग्रिम सूत्र कहते हैं—

(१९५) उभयथा च दोषात्॥२३॥

सूत्रार्थ— उभयथा = दोनों प्रकार से, च = भी, दोषात् = दोष उपस्थित होता है, इसलिए (उनकी मान्यता सिद्ध नहीं होती)।

व्याख्या— बौद्धों के अनुसार जगत् के कारण रूप अविद्या आदि के निरोध का नाम ही मोक्ष है। इस पर दो शंकाएँ प्रकट होती हैं- १. मोक्ष तत्त्व ज्ञान से होता है अथवा २. स्वयमेव हो जाता है। यदि यह माना जाये कि अविद्या के कारण भ्रान्तिरूप दिखने वाला यह जगत् तत्त्व ज्ञान अथवा पूर्ण ज्ञान से अविद्या का नाश होने के साथ नष्ट हो जाता, किन्तु तत्त्वज्ञान से मोक्ष होना इसलिए संभव नहीं है; क्योंकि ऐसा होने पर बिना कारण अपने आप विनाश अर्थात् पदार्थों का अभाव मानना होगा, इससे अप्रतिसंख्या निरोध की मान्यता में विरोध आयेगा और यदि बिना पूर्ण ज्ञान के अपने-आप ही मोक्ष माना जाये, तो भी संगति नहीं बैठती; क्योंकि तब ज्ञान और उसके साधन का उपदेश व्यर्थ सिद्ध होगा। अत: दोनों प्रकार से ही बौद्धों का मत अनुपयुक्त सिद्ध होता है ॥२३॥

समुदायवाद की कल्पना में आकाश कोई पदार्थ (भाव) नहीं; किन्तु आवरण का अभाव मात्र है। सूत्रकार इसका समाधान करते हैं—

(१९६) आकाशे चाविशेषात् ॥२४॥

सूत्रार्थ— आकाशे = आकाश के विषय में, च = भी (उनका मत उचित नहीं; क्योंकि), अविशेषात् = अन्य भाव-पदार्थों से उसमें कोई विशेषता नहीं है।

व्याख्या— पृथिवी, जल आदि के चार तरह के परमाणु और उनसे निर्मित समुदाय एक आवरण की तरह है, उसी प्रकार आकाश भी भाव रूप है, उसकी सत्ता का भी सबको बोध होता है। आकाश को आवरण का अभाव मात्र समझना ठीक नहीं है। जिस प्रकार पृथिवी गन्ध का, जल रस का, तेज रूप का तथा वायु स्पर्श का आश्रय है, उसी प्रकार शब्द का आश्रय आकाश भाव पदार्थ है। आकाश में ही ध्वनि तरंगों का श्रवण सम्भव होता है, यदि आकाश माध्यम न हो, तो यह शब्दों का श्रवण सम्भव नहीं। आधुनिक विज्ञान ने ध्वनि (शब्द) का विद्युत् से सम्बन्ध स्थापित कर उसकी तरंग गति को अत्यधिक बढ़ा दिया है। रेडियो, टेलीविजन आदि में इस व्यवस्था के अन्तर्गत ध्वनि तरंग का वहन विद्युत् द्वारा सीधे ईथर (आकाश) तत्त्व में होता है, जो सर्वव्यापक तत्त्व है।

वैदिक शास्त्र में भी आकाश की उत्पत्ति स्पष्ट शब्दों में स्वीकार की गई है- '**आत्मनः आकाशः सम्भूतः** (तै०उ०२/१)। आधुनिक वैज्ञानिकों ने इसी तत्त्व को 'ईथर' संज्ञा से व्यवहृत किया है। इस प्रकार युक्ति एवं प्रमाण से भी आकाश की सत्ता सिद्ध है, कोई ऐसा विशेष प्रमाण नहीं है कि आकाश को भाव रूप में न स्वीकारा जा सके। अत: किसी प्रकार भी आकाश की अभाव रूपता सिद्ध न होने के कारण बौद्धों की मान्यता स्वीकार किये जाने योग्य नहीं है ॥२४॥

बौद्ध मत में 'आत्मा' को भी नित्य वस्तु न मानकर क्षणिक ही माना गया है। सूत्रकार उनकी इस मान्यता का खण्डन करते हैं—

(१९७) अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

सूत्रार्थ— अनुस्मृतेः = पूर्व प्रसङ्गों का बारम्बार स्मरण होता है, (अत: अनुभव करने वाला आत्मा क्षणिक नहीं है) इस युक्ति से; च = भी (बौद्धमत असङ्ग सिद्ध होता है)।

व्याख्या— सभी मनुष्यों को उपलब्धि अथवा अनुभव होने के अनन्तर उस विषय का जो बारम्बार स्मरण होता है, उसे 'अनुस्मृति' कहते हैं। यह तभी हो सकता है, जबकि अनुभव करने वाला आत्मा नित्य माना जाये। उसे क्षणिक मानने से यह स्मरण नहीं बन सकता; क्योंकि एक क्षण पहले जो अनुभव करने वाला था, वह अगले क्षण नहीं रहता। उदाहरण स्वरूप अपने घर से बाहर परदेश गये हुए यज्ञदत्त नामक व्यक्ति को कालान्तर में निमित्तवश अपने घर का स्मरण हो आता है। यदि प्रत्येक भाव को क्षणिक माना जाये, तब तो

घर से चलने वाला यज्ञदत्त वह रहा ही नहीं। क्षणिक होने के कारण घर का स्मरण करने वाला यज्ञदत्त नष्ट हो गया। परदेश स्थित इस अन्य यज्ञदत्त को घर का स्मरण नहीं होना चाहिए। पर ऐसा स्मरण प्रत्येक (व्यक्ति) आत्मा को होता है, यह सुनिश्चित है। इससे सिद्ध होता है कि अपने अनुभव का स्वत: स्मरण करने वाला आत्मा क्षणिक नहीं हो सकता, घर और परदेस में रहने वाला यज्ञदत्त एक स्थायी व्यक्ति है। इस प्रकार आत्मा का अविनाशी होना सिद्ध होता है। अत: बौद्धों का क्षणिकवाद सर्वथा अनुपपन्न है॥२५॥

'बीज नष्ट होता है, तभी अङ्कुर उत्पन्न होता है। दूध मिटकर दही बनता है। इसी प्रकार कारण स्वयं नष्ट होकर ही कार्य उत्पन्न करता है।' बौद्धों की उक्त मान्यता का समाधान करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

(१९८) नासतोऽदृष्टत्वात्॥२६॥

सूत्रार्थ— असत: = असत् से (कार्य की उत्पत्ति), न = नहीं हो सकती, अदृष्टत्वात् = क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता।

व्याख्या— असत् पदार्थों से किसी कार्य की उत्पत्ति या सिद्धि नहीं देखी जाती। जैसे आकाश में नीलापन न होते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि आकाश नीला है। आकाश में पुष्प नहीं होता फिर भी वाणी द्वारा आकाश-कुसुम बोला जाता है। इसके विपरीत मिट्टी, जल आदि दिखाई देने वाले सत् पदार्थों से घट और बर्फ आदि कार्यों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। इससे यही सिद्ध होता है कि जो वस्तु वास्तव में नहीं है, उसकी प्रतीति मात्र है अथवा कथन मात्र है, उससे कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं। बीज और दूध का अभाव नहीं होता, अपितु रूपान्तर मात्र होता है। अत: जगत् का कारण सत् है और वह शाश्वत सत्य है। अत: बौद्धमत की अनुपादेयता सिद्ध है॥२६॥

सूत्रकार बौद्धों की उपर्युक्त मान्यता का अब दूसरी युक्ति से खण्डन करते हैं—

(१९९) उदासीनानामपि चैवं सिद्धि:॥२७॥

सूत्रार्थ— च = और, एवम् = इस प्रकार (कर्त्ता के बिना कार्य की उत्पत्ति) मानने पर, उदासीनानाम् = उदासीन (कार्य सिद्धि के लिए प्रयत्न न करने वाले) पुरुषों का, अपि = भी, सिद्धि: = कार्य सिद्ध हो सकता है।

व्याख्या— यदि चेतन कर्त्ता के बिना स्वत: कार्य की उत्पत्ति होना सम्भव माना जाये, तो किसी कार्य की सिद्धि के लिए कोई व्यक्ति प्रयत्न क्यों करे? तब पुरुषार्थी मनुष्यों की तरह निकम्मे लोग भी अपने मनोवाञ्छित कार्यों में अनायास सफलता प्राप्त कर लिया करें अथवा कार्य-सिद्धि के लिए प्रयत्नशील व्यक्ति, यह सोचकर कि कार्य स्वत: सिद्ध हो जाएगा, प्रयत्न करना ही छोड़ देंगे। फिर भोजन, वस्त्र और अन्य जीवनोपयोगी आवश्यक सामग्री के लिए सारे प्रयत्न व्यर्थ होंगे। इस प्रकार निष्क्रियत्व का दोष आयेगा और कार्य स्वत: सिद्ध हो जाये, ऐसा देखा भी नहीं जाता। अत: सारहीन बौद्धमत सर्वथा असंगत सिद्ध होता है॥२७॥

यहाँ तक बौद्धों के क्षणिकवाद का निराकरण करने के अनन्तर अब विज्ञानवाद का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। विज्ञानवादी बौद्ध (योगाचार) प्रत्यक्ष पदार्थ जगत् को स्वप्नवत् बुद्धि की कल्पना मात्र मानते हैं। जिसका समाधान आगे के प्रकरण में सूत्रकार करते हैं—

(२००) नाभाव उपलब्धे:॥२८॥

सूत्रार्थ— अभाव: = बाह्य पदार्थों का अभाव, न = नहीं है, उपलब्धे: = क्योंकि उनकी उपलब्धि होती है।

व्याख्या— जानने में आने वाले बाह्य पदार्थ (जगत्) को भ्रममात्र अथवा अभाव समझना ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उनकी उपलब्धि होती है। वे कारणरूप में तथा कार्यरूप में भी सदैव ही

सत्य हैं। यदि वे स्वप्नगत पदार्थों तथा आकाश में दिखाई पड़ने वाली नीलिमा आदि की तरह सर्वथा भ्रम होते, तो इनकी प्राप्ति नहीं होती॥२८॥

शिष्य आशंका करता है कि जगत् में स्वप्नादि अवस्थाओं में वस्तु की अविद्यमानता होते हुए भी उनकी प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार बाजीगर द्वारा उपस्थित पदार्थ यद्यपि सत्य नहीं होते, तो भी इनकी उपलब्धि देखी जाती है, इस पर आचार्य समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(२०१) वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्॥२९॥

सूत्रार्थ— वैधर्म्यात् = जाग्रत् अवस्था में उपलब्ध ज्ञान और स्वप्न में प्रतीत ज्ञान के धर्म-भेद से , च = भी (जाग्रत् में उपलब्ध पदार्थ), स्वप्नादिवत् = स्वप्न आदि में उपलब्ध पदार्थों की तरह, न = मिथ्या नहीं।

व्याख्या— स्वप्न की अवस्था में दिखलाई देने या अनुभव में आने वाले पदार्थ एवं दृश्य, पूर्व के देखे, सुने और अनुभव किये हुए ही होते हैं, वे जागने पर उपलब्ध नहीं होते। एक व्यक्ति के स्वप्न की घटना दूसरे को नहीं दिखाई देती। उसी प्रकार बाजीगर द्वारा कल्पित पदार्थ भी थोड़ी देर के बाद उपलब्ध नहीं होते। इसके विपरीत जाग्रत् अवस्था में प्रत्यक्ष दिखने वाली वस्तुओं के विषय में ऐसी बात नहीं है। वे एक ही काल में अनेकों को एक समान रूप से उपलब्ध होती हैं और कुछ काल बाद भी उनकी उपलब्धि देखी जाती है। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं के पदार्थ परस्पर विपरीत धर्म के हैं। इसलिए स्वप्न आदि के उदाहरणों के आधार पर यह कहना उचित नहीं है कि उपलब्धि मात्र से पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती॥२९॥

विज्ञानवादी के इस कथन का, कि बाह्य पदार्थ के अनुपलब्ध होने की स्थिति में भी पूर्व वासना के कारण बुद्धि द्वारा उन विलक्षण पदार्थों की उपलब्धि सम्भव है, सूत्रकार खण्डन करते हैं—

(२०२) न भावोऽनुपलब्धेः॥३०॥

सूत्रार्थ— भावः = विज्ञानवादियों द्वारा कल्पित वासना की सत्ता, न = सिद्ध नहीं होता, अनुपलब्धेः = क्योंकि वे बाह्य पदार्थों की उपलब्धि नहीं मानते।

व्याख्या— पहले उपलब्ध वस्तु के संस्कार ही वासना रूप में बुद्धि में जमते एवं प्रकट होते हैं। पदार्थों की सत्ता स्वीकार न करने पर उनकी उपलब्धि नहीं होगी और इस प्रकार वासना का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा। अतः विज्ञानवादियों का मत निरर्थक है। बाह्य पदार्थों को सत्य स्वीकार करना युक्तिसङ्गत है॥ ३०॥

वासना का खण्डन करने के लिए आचार्य यहाँ अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

(२०३) क्षणिकत्वाच्च॥३१॥

सूत्रार्थ— क्षणिकत्वात् = बौद्धमतानुसार वासना की आश्रयभूता बुद्धि भी क्षणिक है, इसलिए; च = भी (वासना की सत्ता सिद्ध नहीं होती)।

व्याख्या— बुद्धि ही वासना का आधार है और उसे भी विज्ञानवादी क्षणिक मानते हैं । यदि उनका कथन सत्य मानें, तो बुद्धि की स्थिर सत्ता न होने से निराधार वासना भी अस्तित्वहीन हो जायेगी। इसलिए भी बौद्धमत उपादेय सिद्ध नहीं होता॥३१॥

सब प्रकार की अनुपपत्ति होने के कारण बौद्धमत की अनुपयोगिता की ओर इंगित करते हुए प्रस्तुत प्रकरण का आचार्य द्वारा अब उपसंहार किया जाता है—

(२०४) सर्वथाऽनुपपत्तेश्च॥३२॥

सूत्रार्थ— सर्वथा = सब प्रकार से, अनुपपत्तेः = असङ्गति दिखाई देती है, इसलिए; च = भी (बौद्धमत की

उपादेयता सिद्ध नहीं होती)

व्याख्या— बौद्ध मत की मान्यताओं पर जितनी गहराई से विचार किया जाता है, उतना ही उनकी प्रत्येक बातों में असंगति दिखाई देती है। उनकी प्रत्येक बातें युक्ति विरुद्ध लगती हैं। बौद्धों की सभी मान्यताओं का युक्तियों द्वारा खण्डन हो जाता है, इसलिए वह कदापि उपादेय नहीं जान पड़ता। प्रस्तुत प्रकरण का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने यहाँ माध्यमिक बौद्धों के सर्वशून्यवाद का भी खण्डन कर दिया है, ऐसा समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिन युक्तियों से क्षणिकवाद और विज्ञानवाद का निराकरण किया गया, उन्हीं के द्वारा सर्वशून्यवाद का भी निराकरण हो गया, ऐसा मानना चाहिए॥३२॥

अभी तक के प्रकरण में बौद्धमत का खण्डन करने के पश्चात् अब जैन मत का खण्डन करने के उद्देश्य से नया प्रकरण आरम्भ किया जाता है। जैन मतावलम्बी सप्तभङ्गी न्याय के आधार पर एक ही पदार्थ की सत्ता और असत्ता दोनों स्वीकार करते हैं। सूत्रकार जैनियों की ऐसी मान्यता का निराकरण करने हेतु कहते हैं—

(२०५) नैकस्मिन्नसम्भवात्॥३३॥

सूत्रार्थ— एकस्मिन् = एक पदार्थ में, न = परस्पर विरुद्ध कई धर्म नहीं रह सकते, असम्भवात् = क्योंकि, यह असम्भव है।

व्याख्या— जैन मत में सात पदार्थ (जीव, अजीव, आस्त्रव, संवर, निर्जन, बन्ध और मोक्ष) और पाँच आस्तिकाय (जीवास्तिकाय, फुदगलास्तिकक्, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकास्तिकाय) माने जाते हैं, साथ ही सप्त भंगी न्याय को मानने वाले हैं। उनके सप्तभङ्गी न्याय का स्वरूप इस प्रकार है- १. स्यादस्ति (पदार्थ की सत्ता का होना), २. स्यान्नास्ति (प्रकारान्तर से पदार्थ की सत्ता नहीं है), ३. स्यादस्ति च नास्ति च (पदार्थ की सत्ता का होना या न होना), ४. स्यादवक्तव्य: (सम्भव है, वस्तु का स्वरूप वर्णन करने योग्य न हो), ५. स्यादस्ति चावक्तव्यश्च (वस्तु की सत्ता का होना; परन्तु वर्णन योग्य न होना), ६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च (सम्भव है, वस्तु की सत्ता भी न हो और वह वर्णन करने योग्य भी न हो) तथा ७. स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च (सम्भव है, वस्तु की सत्ता हो, न भी हो और वह वर्णन करने योग्य भी न हो)। इस तरह सभी पदार्थों में उनके द्वारा विकल्प होना सिद्ध होता है। सूत्र के द्वारा इसी का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि सत् पदार्थ में प्रकार भेद तो सम्भव है; परन्तु उसमें विरोधी धर्म का होना सम्भव नहीं है। जो वस्तु है, उसका अभाव नहीं हो सकता अथवा जो वस्तु नहीं है, उसकी विद्यमानता कहाँ से होगी ? इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि नित्य पदार्थ, नित्य ही रहेगा, अनित्य नहीं हो सकता तथा अनित्य पदार्थ, अनित्य ही रहेगा नित्य नहीं हो सकता। अत: जैन मतावलम्बियों का प्रत्येक वस्तु को विरुद्ध धर्मों से युक्त मानना युक्ति सङ्गत नहीं लगता, इससे उनके मत की निरर्थकता ही सिद्ध होती है॥३३॥

आत्मा की माप शरीर के बराबर होती है, जैनियों की इस दूसरी मान्यता को भी दोषपूर्ण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(२०६) एवं चात्माकात्स्न्र्यम्॥३४॥

सूत्रार्थ— एवं च = इसी प्रकार, आत्माकात्स्न्र्यम् = आत्मा को अपूर्ण- एकदेशीय अर्थात् शरीर के बराबर माप वाला मानना भी मिथ्या है।

व्याख्या— पदार्थों में विरुद्ध धर्मों की मान्यता की तरह आत्मा को एकदेशीय अर्थात् शरीर के समान परिमाप वाला मानना भी युक्तिसङ्गत नहीं है; क्योंकि किसी मनुष्य शरीरधारी आत्मा को यदि कभी उसके कर्मानुसार चींटी का शरीर प्राप्त हो, तो वह उसमें कैसे प्रविष्ट होगा ? इसी प्रकार हाथी का शरीर प्राप्त होने पर उसका माप हाथी के समान कैसे हो जायेगा ? इसके अतिरिक्त मनुष्य का शरीर बाल्यावस्था में छोटा तथा किशोरावस्था

एवं युवावस्था में बहुत बड़ा हो जाता है, तो आत्मा का माप किस अवस्था के शरीर के बराबर मानेंगे ? किसी के शरीर का हाथ-पैर आदि कोई भाग कट जाने से आत्मा नहीं कट जाता। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा को एकदेशीय अथवा शरीर के बराबर मानने की बात भी सर्वथा दोषपूर्ण और अव्यावहारिक प्रतीत होता है ॥३४॥

अपनी मान्यता को निर्दोष सिद्ध करने के लिए जैनी लोगों के यह तर्क देने पर कि आत्मा छोटे शरीर में छोटा तथा बड़े शरीर में बड़ा हो जाता है, आचार्य सूत्रकार इसके उत्तर में कहते हैं—

(२०७) न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥३५॥

सूत्रार्थ— च = और, पर्यायात् = आत्मा को घटने-बढ़ने वाला मान लेने से, अपि = भी, अविरोधः = विरोध का निवारण, न = नहीं हो सकता, विकारादिभ्यः = क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा में विकार आदि दोष प्राप्त होंगे।

व्याख्या— यदि यह मान लिया जाये कि आत्मा शरीर के परिमाण के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है, तो भी वह निर्दोष नहीं सिद्ध होता; क्योंकि ऐसा मान लेने पर उसे विकारी अवयवयुक्त तथा अनित्य आदि कई दोषों से युक्त माना जायेगा। घटने-बढ़ने वाला पदार्थ अवयवयुक्त तथा अनित्य होता है, जबकि आत्मा को निरावयव एवं नित्य माना गया है। घटना और बढ़ना विकार है, जो कि निर्विकार आत्मा में सम्भव नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने से अनेक दोष आत्मा में प्राप्त हो सकते हैं। अतः जैनियों की उपर्युक्त मान्यता निरर्थक है ॥३५॥

सूत्रकार आत्मा को शरीर के समान माप वाला मानने की असङ्गतता को प्रकारान्तर से सिद्ध करते हैं—

(२०८) अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥३६॥

सूत्रार्थ— च = और , अन्त्यावस्थितेः = मरणकाल में जीव का जो परिमाण (माप) है, उसकी नित्य स्थिति मानी गई है, इसलिए, उभयनित्यत्वात् = आदि और मध्य अवस्था में जो उसका परिमाप रहा है, उसको भी नित्य मानना हो जाता है, अविशेषः = अतः कोई विशेषता नहीं रह जाती (सब शरीरों में उसका माप एक-सा सिद्ध हो जाता है)।

व्याख्या— मोक्षावस्था में जीव का जो परिमाप है, उसकी नित्य स्थिति का प्रतिपादन जैनियों ने किया है अर्थात् उनका एक-सा रहना बतलाया है। इस कारण आदि और मध्य की अवस्था में भी जो उसका परिमाण है, उसको भी उसी प्रकार नित्य मानना हो जाता है। वह बीच में घटता-बढ़ता नहीं, सदा एक-सा ही रहता है तथा छोटी या बड़ी किसी भी योनि में जाने पर उन सबमें समान परिमाण ही रहता है। योनि के आधार पर किसी प्रकार की माप सम्बन्धी विशेषता का मानना युक्तिसङ्गत नहीं होगा। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध मान्यताएँ होने के कारण जैन-सिद्धान्त मानने योग्य नहीं है ॥३६॥

इस प्रकार जैन मतवादियों की मान्यता को निरस्त करने के पश्चात् पाशुपत सिद्धान्त वालों की मान्यता का निराकरण करने के लिए अब आचार्य अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—

(२०९) पत्युरसामञ्जस्यात् ॥३७॥

सूत्रार्थ— पत्युः = पशुपति का मत भी, असामञ्जस्यात् = परस्पर विरोधी मान्यताओं के कारण युक्तिसंगत नहीं है।

व्याख्या— पशुपति मत में तत्त्वों की कल्पना एवं मुक्ति के साधन वेद-विरुद्ध हैं। इस मत में छः मुद्राएँ-कण्ठी, रुचिका, कुण्डल, जटा, भस्म और यज्ञोपवीत हैं। उनका कथन है कि जो इनके द्वारा अपने देह को

मुद्रित (चिह्नित) कर लेता है, उसे पुनः जन्म धारण नहीं करना होता। उनकी मान्यता है कि हाथ में रुद्राक्ष का कंकण पहनने, मस्तक पर जटा धारण करने, मुर्दे की खोपड़ी लिए रहने तथा शरीर पर भस्म लगाने जैसे चिह्नों को धारण करने मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त वे शंकर को निमित्त कारण तथा प्रधान को उपादान कारण मानते हैं, परन्तु उक्त सभी बातें परस्पर विरुद्ध धर्म वाली तथा वेद-विरुद्ध हैं तथा यह मत मानने योग्य नहीं है ॥३७॥

अब आचार्य पाशुपतों के निमित्त कारणवाद सिद्धान्त का निराकरण करते हैं—

(२१०) सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥३८॥

सूत्रार्थ— सम्बन्धानुपपत्तेः = सम्बन्ध की सिद्धि न होने से , च = भी (यह मत असङ्गत है)।

व्याख्या— पाशुपतों की मान्यतानुसार यदि ब्रह्म को मात्र निमित्त कारण माना जाये, तो उपादान के साथ उसका किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित होगा, यह जानना आवश्यक है। व्यवहार में देखा जाता है कि शरीरधारी कुम्भकार आदि घट आदि कार्यों के निमित्त मृत्तिका आदि साधनों से अपना संयोग संबन्ध स्थापित करते हैं; किन्तु ब्रह्म के निराकार होने की वजह से उसका जड़ प्रकृति के साथ संयोग रूप सम्बन्ध नहीं होता, अतएव वह सृष्टि रचना भी नहीं कर सकता। जो लोग वेदों को प्रमाण मानते हैं उनके लिए युक्ति का कोई मूल्य नहीं है; क्योंकि वे वेद के कथनानुसार ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हैं। अतः ईश्वर स्वयं ही निमित्त और उपादान कारण है। पाशुपतों की उपर्युक्त मान्यता वेद और तर्क दोनों से ही सिद्ध नहीं होने के कारण सर्वथा अमान्य और अनुपादेय है ॥३८॥

उक्त मत में अब आचार्य अन्य अनुपपत्ति दर्शाते हैं—

(२११) अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥३९॥

सूत्रार्थ— अधिष्ठानानुपपत्तेः = अधिष्ठान की उपपत्ति न होने के कारण, च = भी (ईश्वर को केवल निमित्त कारण नहीं कह सकते)।

व्याख्या— वे मानते हैं कि जिस प्रकार मिट्टी आदि साधन सामग्री का अधिष्ठाता होकर कुम्भकार घट आदि का कार्य करता है, उसी प्रकार प्रधान आदि साधनों का अधिष्ठाता होने पर सृष्टिकर्त्ता ईश्वर भी रचना कार्य कर सकेगा, परन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि न तो ईश्वर कुम्भकार जैसा शरीरधारी है और न प्रधान ही मिट्टी आदि की तरह साकार है, अतः निराकार ईश्वर रूपादि से रहित प्रधान का अधिष्ठाता कैसे हो सकता है? इसलिए युक्ति विरुद्ध मान्यताओं वाला पाशुपत मत मान्य नहीं हो सकता ॥३९॥

ऐसी स्थिति में पाशुपतों द्वारा ब्रह्म को शरीर और इन्द्रियों से युक्त मान लेने की बात कहने पर सूत्रकार कहते हैं—

(२१२) करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥४०॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि, करणवत् = (ईश्वर को) शरीर, इन्द्रिय आदि करणों से युक्त मान लें तो, न = ऐसा ठीक नहीं है, भोगादिभ्यः = क्योंकि ऐसा मानने पर वह भोगादि का भोक्ता सिद्ध हो जायेगा।

व्याख्या— यदि यह कहा जाये कि ब्रह्म अपने संकल्प से ही मन, बुद्धि, इन्द्रियादि सहित शरीर धारण करके निमित्त कारण बन जाता है, तो यह कहना भ्रममूलक है; क्योंकि शरीरधारी होने पर सामान्य जीवों की तरह उसके शुभाशुभ कर्मों एवं सुख-दुःख आदि भोगों को मानने का प्रसङ्ग आ जायेगा। ऐसी अवस्था में उसका ईश्वरत्व भी सिद्ध नहीं होगा। अतः ब्रह्म को केवल निमित्तकारण मानना युक्तिसङ्गत नहीं है ॥४०॥

पाशुपतों की उपर्युक्त मान्यता में आचार्य अन्य दोष उपस्थित करते हुए कहते हैं—

(२१३) अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥४१॥

सूत्रार्थ— अन्तवत्त्वम् = ईश्वर के विनाशवाला होने का, वा = अथवा, असर्वज्ञता = सर्वज्ञ न होने का दोष उपस्थित होता है।

व्याख्या— पाशुपत सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त प्रकार मानने से ईश्वर को मरणधर्मा मानना होगा और तब उसके सर्वज्ञ न होने का दोष उपस्थित होगा; क्योंकि जो शरीर से सम्बद्ध है, वह कभी न कभी उसका परित्याग भी अवश्य करता है। शरीर के ग्रहण और परित्याग का नाम ही विनाश है, सूत्र में 'अंत' पद का संकेत उसी ओर है। यदि प्रधान एवं जीवों का अधिष्ठाता ईश्वर शरीरी होगा, तो निश्चय ही वह जीवों की तरह कभी शरीर का ग्रहण करने वाला एवं कभी परित्याग करने वाला होगा। ऐसी अवस्था में उसे अन्तवाला (विनाशी) एवं अल्पज्ञ मानना होगा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अविनाशी परब्रह्म नहीं। इस प्रकार पशुपति मत के अनुसार परब्रह्म परमात्मा को शरीरी मानना सर्वथा निस्सार एवं वेद-विरुद्ध है॥४१॥

यहाँ तक वेद के प्रतिकूल मतों का निराकरण किया गया है। अब आगे वेद प्रमाण पर आधारित पाञ्चरात्र आगम में आंशिक अनुपपत्ति की शङ्का का समाधान करने के उद्देश्य से अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। भागवत्-शास्त्र एवं पाञ्चरात्र के अनुसार जगत् के कारण परब्रह्म स्वरूप 'वासुदेव' से 'संकर्षण' नामक जीव की; संकर्षण से 'प्रद्युम्न' संज्ञक मन की एवं प्रद्युम्न से 'अनिरुद्ध' नामक अहंकार की उत्पत्ति होती है। इस प्रकरण में दोष दिखाते हुए पूर्वपक्षी का कथन है—

(२१४) उत्पत्त्यसम्भवात्॥४२॥

सूत्रार्थ— उत्पत्त्यसम्भवात् = जीव की उत्पत्ति सम्भव न होने से (वासुदेव से संकर्षण की उत्पत्ति मानना वेद-विरुद्ध है)।

व्याख्या— भागवत्-शास्त्र अथवा पाञ्चरात्र आगम की यह मान्यता है कि 'जगत् के परम कारण परब्रह्म श्री 'वासुदेव' हैं और वे ही इसके निमित्त एवं उपादान कारण भी हैं; श्रुति सङ्गत है, परन्तु वासुदेव से 'संकर्षण' नामक जीव की उत्पत्ति का कथन वेद-विरुद्ध है; क्योंकि श्रुति में जीव को जन्म-मरण रहित एवं नित्य कहा गया है। उत्पन्न होने वाली वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती, उसका मरण निश्चित है। इस प्रकार वेद-शास्त्रों में उसकी बद्ध-मुक्त अवस्था का विवेचन है, वह निरर्थक होगा। इसके अतिरिक्त जन्म-मृत्यु रूप बंधन से मुक्ति एवं ब्रह्म की प्राप्ति के वेदोक्त साधन भी व्यर्थ सिद्ध होंगे। अत: जीव की उत्पत्ति की बात उचित नहीं है॥४२॥

अब पूर्वपक्षी की अन्य शंका का वर्णन किया जाता है—

(२१५) न च कर्तुः करणम्॥४३॥

सूत्रार्थ— च = तथा, कर्तुः = कर्त्ता (जीवात्मा) से, करणम् = करण (मन और मन से अहंकार) की उत्पत्ति भी, न = सम्भव नहीं है।

व्याख्या— जिस प्रकार परब्रह्म वासुदेव से जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार संकर्षण नाम से कहे जाने वाले जीव से प्रद्युम्न नामक मन की और उससे अनिरुद्ध नामक अहंकार की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जीव कर्त्ता और चेतन है, मन करण है। कर्त्ता से करण की उत्पत्ति होना नितान्त असम्भव है, अत: यह मान्यता भी असंगत है॥४३॥

पाञ्चरात्र आगम में अन्य सब मान्यताएँ वेदानुकूल होने पर भी उपर्युक्त स्थलों में दर्शाये गये श्रुति विरोध का अगले दो सूत्रों द्वारा समाधान किया जा रहा है—

(२१६) विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥४४॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा; विज्ञानादिभावे = ईश्वर में सर्वविज्ञान और सर्वव्यापक आदि भाव मान लें तो, तदप्रतिषेधः = उसकी उत्पत्ति का वेद में निषेध नहीं है।

व्याख्या— पूर्वपक्षी के इस कथन में कि 'श्रुति में जीव की उत्पत्ति का विरोध है तथा कर्त्ता से करण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत्तर में सिद्धान्त पक्ष का मत है कि पाञ्चरात्र शास्त्र में जीवात्मा की उत्पत्ति अथवा कर्त्ता से करण की उत्पत्ति नहीं बताई गई है; बल्कि संकर्षण जीव तत्त्व के, प्रद्युम्न मनस्तत्त्व के और अनिरुद्ध अहंकार तत्त्व के अधिष्ठाता बताये गये हैं, जो भगवान् वासुदेव के ही अङ्गभूत हैं; क्योंकि वहाँ संकर्षण को ईश का प्राण, प्रद्युम्न को मन और अनिरुद्ध को अहंकार माना गया है। इस प्रकार के गुण से युक्त 'वासुदेव' ब्रह्म ही हैं। अतः इनकी उत्पत्ति का जो वर्णन है, वह भगवान् के ही अंशों का उन-उन रूपों में प्राकट्य बतलाने वाला है। 'अजायमानो बहुधा विजायते।' (यजु० ३१/१९) इस श्रुति वाक्य में अजन्मा भगवान् के विविध रूपों में प्राकट्य का वर्णन मिलता है। अतः संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध आदि उन परब्रह्म वासुदेव से भिन्न तत्त्व नहीं हैं। अतः इनकी उत्पत्ति का वर्णन वेद-विरुद्ध नहीं है॥४४॥

उक्त प्रकरण का उपसंहार करते हुए आचार्य सूत्रकार कहते हैं—

(२१७) विप्रतिषेधाच्च॥४५॥

सूत्रार्थ— विप्रतिषेधात् = इस शास्त्र में जीव की उत्पत्ति का निषेध किया गया है, इसलिए; च = भी (यह वेद के प्रतिकूल नहीं है)।

व्याख्या— पाञ्चरात्र आगम में जीव को अनादि, नित्य, चेतन, अविनाशी माना गया है तथा उसके जन्म-मरण का निषेध किया गया है। इससे भी वैदिक प्रक्रिया का अविरोध सिद्ध होता है। उक्त शास्त्र का यह कथन कि 'शाण्डिल्य मुनि ने वेद-वेदाङ्गों में निश्चल स्थिति को न पाकर इस भक्तिशास्त्र का अध्ययन किया', वेदों की निन्दा या प्रतिषेध नहीं है, अपितु इस वाक्य द्वारा भक्तिशास्त्र की महिमा का बखान किया गया है। अतः पाञ्चरात्र आगम सर्वथा निर्दोष एवं वेदानुकूल है॥४५॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

॥ अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

ग्रन्थ के आरम्भ में शास्त्रीय वाक्यों के समन्वय द्वारा यह सिद्ध किया गया कि सृष्टि के सृजन का प्रमुख कारण ब्रह्म है। इस समन्वय में उपस्थित विरोधों का निराकरण स्मृति एवं तर्क के आधार पर द्वितीय अध्याय के पूर्व पादों में किया गया। अब उस समन्वय (परब्रह्म को समस्त सृष्टि का अभिन्न निमित्त एवं उपादान कारण मानने) में शास्त्र के विभिन्न वाक्यों के अन्तर्गत जो विरोध प्रतीत होता है, उसके समाधान तथा जीवात्मा के स्वरूप का विवेचन करने के उद्देश्य से यह पाद आरम्भ किया जाता है।

श्रुतियों में कहीं तो कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति में परमात्मा ने सर्वप्रथम तेज की रचना की, फिर तेज से जल एवं जल से अन्न की तथा कहीं पर कहा है कि प्रथमतः आकाश की सर्जना हुई, फिर उससे वायु आदि के क्रम से जगत् का निर्माण हुआ। जगदुत्पत्ति के सन्दर्भ में इस प्रकार विरोध की एकता करके समाधान करने के लिए सूत्रकार विवेचनपूर्वक पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—

(२१८) न वियदश्रुतेः ॥१ ॥

सूत्रार्थ— वियत् = आकाश, न = उत्पन्न नहीं होता, अश्रुतेः = क्योंकि (छान्दोग्य के सृष्टि प्रकरण में) उसकी उत्पत्ति नहीं सुनी गयी है।

व्याख्या— छान्दोग्य उपनिषद् (६/२/३-४, ६/३/२-४) के सर्ग रचना में जहाँ जगत् की उत्पत्ति का वर्णन आया है, वहाँ सर्वप्रथम तेज के उत्पत्ति की बात कही गई है; फिर तेज, जल और अन्न इन तीनों के सम्मिलन से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है, वहाँ आकाश की उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं है। गीता में (१३/३२) आकाश को विभु (व्यापक) माना गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आकाश उत्पन्न नहीं होता, बल्कि वह नित्य है॥१ ॥

(२१९) अस्ति तु ॥२ ॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, अस्ति = आकाश की उत्पत्ति का उल्लेख भी दूसरी श्रुति में है।

व्याख्या— तैत्तिरीय उपनिषद् (२/१/१) में कहा गया है- **'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** निश्चित ही उस व्यापक तत्त्व से आकाश उत्पन्न होता है। यहाँ ब्रह्म को सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त बताकर उसी से आकाश की उत्पत्ति बताई गई है। **'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'** (मुण्डकोपनिषद् २/१/३) के अनुसार उस अविनाशी तत्त्व से प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और पृथिवी उत्पन्न होते हैं। उक्त कथन में भी आकाश की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। अतः यह कहना समीचीन नहीं है कि वेदों में आकाश की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है॥२ ॥

तत्त्वविवेचन के उद्देश्य से पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(२२०) गौण्यसम्भवात् ॥३ ॥

सूत्रार्थ— असम्भवात् = आकाश की उत्पत्ति सम्भव न होने के कारण, गौणी = यह श्रुति गौण है।

व्याख्या— निरवयव तथा व्यापक होने के कारण आकाश का उत्पन्न होना नहीं हो सकता; क्योंकि उत्पन्न होने वाला पदार्थ हमेशा सावयव होता है। प्रलयकाल में जो आकाश मूल उपादान तत्त्वों से भरा हुआ था, सर्गकाल में उसके जगत् रूप में परिणत हो जाने से प्रकट जैसा हो जाता है। सम्भव है कि इस अवस्था को ही तैत्तिरीय व मुण्डकोपनिषद् में उत्पन्न होना कह दिया गया हो। अतः उस कथन को गौण समझना चाहिए॥३ ॥

पूर्वपक्ष की ओर से स्वपक्ष को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से सूत्रकार अन्य हेतु उपस्थित करते हैं—

(२२१) शब्दाच्च ॥४॥

सूत्रार्थ— शब्दात् = शब्द प्रमाण से, च = भी (आकाश का उत्पन्न न होना सिद्ध होता है)।

व्याख्या— बृहदारण्यक उ. (२/३/३) में कहा गया है- '**वायुश्चान्तरिक्षंचैतदमृतम्**'- वायु और आकाश दोनों अमृत हैं, अमरणधर्मा हैं। उत्पन्न होने वाले की मृत्यु सुनिश्चित है। श्रुति में आकाश की अमरता का स्पष्ट संकेत है, इससे सिद्ध होता है कि वह उत्पन्न होने वाला पदार्थ नहीं है। अत: जहाँ कहीं आकाश की उत्पत्ति का वर्णन है, उसे उक्त आधारों पर गौण समझना चाहिए। इसी तरह तैत्तिरीय उपनिषद् (१/६/२) में '**आकाशशरीरं ब्रह्म**' कहकर आकाश को ब्रह्म का शरीर होना बताया गया है। इस प्रकार उक्त श्रुति वाक्यों से आकाश की अमरता व अनन्तता सिद्ध होती है, इसलिए भी उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥४॥

यहाँ शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि श्रुति के सर्ग प्रकरण में प्रयुक्त 'जायते' एवं 'सम्भूत:' पदों का आकाश के सन्दर्भ में गौण प्रयोग समझा जाये तथा वायु, अग्नि आदि के विषय में मुख्य प्रयोग, यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है? आचार्य ने पूर्वपक्ष की दृढ़ता के लिए समाधान प्रस्तुत किया—

(२२२) स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

सूत्रार्थ— च = और, ब्रह्मशब्दवत् = ब्रह्म शब्द के समान, एकस्य = किसी एक शाखा के वर्णन में, स्यात् =गौण रूप से भी आकाश की उत्पत्ति कही जा सकती है।

व्याख्या— '**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति**' (तै.उ. ३/२) अर्थात् तप द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ब्रह्म है। इस वाक्य में एक ही ब्रह्म पद का प्रथम प्रयोग मुख्य अर्थ में है, जबकि दूसरा गौण अर्थ में, अर्थात् जो ब्रह्मज्ञान का साधन है, उस तप को ब्रह्म कह दिया गया है। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् (१/१/९) में '**तस्मादेतद् ब्रह्म**' कहकर '**ब्रह्म**' को गौण अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। किसी-किसी विद्वान् द्वारा गौण अर्थ में आकाश को उत्पत्तिशील बताया गया हो सकता है ॥५॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करने के पश्चात् अब आगामी दो सूत्रों द्वारा आचार्य सूत्रकार उक्त प्रकरण का समाधान करते हैं—

(२२३) प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्य: ॥६॥

सूत्रार्थ— अव्यतिरेकात् = ब्रह्म के कार्य से आकाश को अलग न मानने से ही, प्रतिज्ञाहानि: = प्रतिज्ञा की हानि न होगी, शब्देभ्य: = श्रुति शब्दों से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या— छान्दोग्य उपनिषद् (३/१/१-६) में जो एक को जानने से सबका ज्ञान हो जाने की प्रतिज्ञा की गई है तथा उस प्रसङ्ग में कार्य-कारण के उदाहरणों की अविरोध सिद्धि आकाश को ब्रह्म के कार्य से पृथक् न मानने पर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं; क्योंकि वहाँ मृत्तिका और स्वर्ण आदि का उदाहरण देकर उनके किसी एक कार्य के ज्ञान से कारण का ज्ञान होने पर सबका ज्ञान होना बताया गया है। अत: यदि आकाश को ब्रह्म से भिन्न मानेंगे, तो इससे प्रतिज्ञा की हानि होगी। इसके अतिरिक्त 'यह सब नि:सन्देह ब्रह्म ही है; क्योंकि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय उसी में होता है' (छा.उ. ३/१४/१), 'यह सब ब्रह्म ही है' (मु.उ. २/२/११) आदि श्रुति कथनों से आकाश ब्रह्म का ही कार्य होना सिद्ध होता है ॥६॥

(२२४) यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥७॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, लोकवत् = लौकिक व्यवहार की तरह, यावद्विकारम् = जहाँ तक विकार है, विभाग: = ब्रह्म की ही रचना है।

व्याख्या— जिस प्रकार लोक में किसी के पुत्रों को इंगित करके कह दिया जाता है कि ये अमुक के पुत्र हैं और उनमें से किसी एक की उत्पत्ति बता देने से ही सबकी उत्पत्ति उसी प्रकार हुई होगी यह समझ लिया

जाता है, उसी प्रकार जब सम्पूर्ण विकारात्मक जगत् को उस ब्रह्म का कार्य बता दिया गया, तब आकाश उससे अलग कैसे रह सकता है। अत: जिसकी उत्पत्ति कह दी गई, उन्हीं की तरह न कहे जाने वालों की उत्पत्ति भी समझ लेनी चाहिए। तेज आदि की सृष्टि की तरह ही वायु और आकाश का भी ब्रह्म से सृजन तथा उनका अमर होना कहा गया है ॥७॥

आकाश का उत्पन्न होना सिद्ध होने के बाद वायु के सन्दर्भ में निर्णय के भाव से शिष्य द्वारा जिज्ञासा प्रकट करने पर सूत्रकार कहते हैं—

(२२५)　　एतेन मातरिश्वा व्याख्यात: ॥८॥

सूत्रार्थ— एतेन = इस उपर्युक्त कथन से, मातरिश्वा = वायु का उत्पन्न होना भी, व्याख्यात: = बता दिया गया।

व्याख्या— बृहदारण्यक (२/३/३) में वायु को 'अमृत' कहा है; परन्तु मुण्डक (२/१/३) और तैत्तिरीय (२/१) में वायु की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है। शास्त्र कथनों में पाये जाने वाले इस विरोध से सन्देह होता है कि वायु को उत्पन्न तत्त्व माना जाये अथवा अनुत्पन्न? आचार्य ने निर्णय दिया कि जिन युक्तियों और प्रमाणों से आकाश का उत्पन्न होना निश्चित किया गया, उन्हीं प्रमाणों से वायु का उत्पन्न होना भी सिद्ध हो गया, अत: उसके सम्बन्धों में अलग से कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ॥८॥

इस प्रकार आकाश और वायु की उत्पत्ति सिद्धि के बाद लोक में जिन तत्त्वों को अन्य मतावलम्बी नित्य मानते हैं एवं जिनकी उत्पत्ति का श्रुति में स्पष्ट कथन नहीं है, उन सबको भी उत्पत्तिशील सिद्ध करने के उद्देश्य से सूत्रकार आगे कहते हैं—

(२२६)　　असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्ते: ॥९॥

सूत्रार्थ— सत: = 'सत्' शब्दवाच्य ब्रह्म के सिवा (किसी अन्य से उत्पन्न न होना), तु = तो, असम्भव: = सम्भव नहीं है; क्योंकि, अनुपपत्ते: = यह युक्ति और प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता।

व्याख्या— श्रुति में सत् नाम से वर्णित परब्रह्म परमात्मा, जिसे इस जड़-चेतन जगत् का परम कारण माना गया है, के सिवा अन्य कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो इस जगत् में उत्पत्तिशील न हो। बुद्धि, अहंकार, काल, गुण और परमाणु आदि सभी तो उत्पत्तिशील हैं; क्योंकि ऋग्वेद के प्रलयदशा वर्णन में कहा है- **'आनीदवातं स्वधया तदेकं'** (ऋ. १०/१२९/२) अर्थात् प्रलयदशा में जब कार्यजगत् का कोई पदार्थ विद्यमान नहीं रहता, तब स्वधा-प्रकृति के साथ एक मात्र शुद्ध चेतन तत्त्व ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित रहता है। अत: श्रुतियों के प्रमाण एवं युक्तियों से यही बात सिद्ध होती है कि ब्रह्म ही अजन्मा एवं नित्य है, उसके सिवाय कोई भी ऐसा नहीं है, जो जन्म-मरण के चक्र में बँधा न हो अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त सभी उत्पत्तिशील हैं ॥९॥

छान्दोग्यो० (६/२/३-४) का कथन है कि 'उस ब्रह्म ने तेज को रचा' जबकि तैत्तिरीय (२/१) के अनुसार ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु और वायु से तेज।' अत: यहाँ शिष्य जिज्ञासा करता है कि तेज को ब्रह्म से उत्पन्न हुआ माना जाये अथवा वायु से? सूत्रकार समाधान करते हैं—

(२२७)　　तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥१०॥

सूत्रार्थ— तेज: = तेज, अत: = इस (वायु) से, तथा हि = ऐसा ही, आह = अन्यत्र कहा है।

व्याख्या— 'वायोरग्नि:' (तै.उ. २/१) इस श्रुति वाक्य से, 'तेज तत्त्व वायु से उत्पन्न हुआ है' यही सिद्ध होता है। भाव यह है कि ब्रह्म ने वायु से तेज को उत्पन्न किया अर्थात् आकाश और वायु उत्पन्न करने के पश्चात् वायु से तेज की रचना की, ऐसा मान लेने पर दोनों श्रुतियों की वाक्यैक्यता हो जायेगी ॥१०॥

जगत् रचना क्रम में आचार्य ने आगे बताया—

(२२८) आप: ॥११ ॥

सूत्रार्थ— आप: = जल (तेज से उत्पन्न हुआ)।

व्याख्या— तेज के अनन्तर जल उत्पन्न होता है, ऐसा उल्लेख शास्त्रों में प्राप्त होता है। '**अग्नेराप:**' (तै.उ. २/१/१) के अनुसार अग्नि से जल का उद्‌भव बताया गया है। इस प्रकार तेज के द्वारा जल का उत्पन्न होना सिद्ध होता है ॥११ ॥

जल के बाद आचार्य ने पृथिवी की उत्पत्ति के विषय में कहा—

(२२९) पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्य: ॥१२ ॥

सूत्रार्थ— पृथिवी = पृथिवी की उत्पत्ति कही गयी है, अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्य: = अधिकार से, रूप से तथा शब्द के अन्तर से।

व्याख्या— मुण्डक (२/१/३) में जल की उत्पत्ति के बाद पृथिवी की रचना का स्पष्ट उल्लेख है। छान्दोग्य (६/२/४) में जल के अनन्तर 'अन्न' की उत्पत्ति का वर्णन है, पृथ्वी का नहीं। '**अधिकार रूप शब्दान्तरेभ्य:**' हेतुओं का आधार पर इस शंका का समाधान करने के लिए यहाँ सूत्रकार अन्न को पृथ्वी मानने के तीन कारण प्रस्तुत करते हैं- अधिकार का अर्थ है प्रकरण। इस प्रकरण में अन्न शब्द को पृथिवी शब्द का ही बोधक मानना उपयुक्त है; क्योंकि यह तत्त्वों की उत्पत्ति का प्रकरण है और पृथिवी पंच तत्त्वों में से एक है। दूसरा जो अन्न का रूप कृष्ण बताया गया है, वह भी पृथिवी के साथ अधिक सामञ्जस्य रखता है। धान, चना, गेहूँ आदि अन्नों के कृष्ण रूप होने का कोई नियम नहीं है। यद्यपि पृथ्वी भी कहीं-कहीं लाल, पीले, सफेद आदि रूपों में देखी जाती है, पर प्राय: उसका कृष्ण रूप ही देखा जाता है। अब शब्दान्तर पर कहते हैं- '**अद्‌भ्य: पृथिवी**' (तै.उ. २/१) में जहाँ इस क्रम का उल्लेख है, वहाँ भी जल से पृथिवी का उत्पन्न होना बताया गया है, उसके पश्चात् पृथिवी से ओषधि और ओषधि से अन्न की उत्पत्ति की बात कही गई है, जल से सीधे अन्न उत्पन्न होने की बात नहीं कही गई है। इन उदाहरणों से सिद्ध है कि यहाँ 'अन्न' शब्द से 'पृथिवी' ही कही गई है ॥१२ ॥

प्रस्तुत प्रसंग में आकाश की उत्पत्ति स्वयं ब्रह्म से तथा शेष तत्त्वों की क्रमश: एक दूसरे से उत्पत्ति कही गई है। अत: शिष्य जिज्ञासा करता है कि एक तत्त्व के अनन्तर दूसरे तत्त्व की रचना स्वयं ब्रह्म करता है अथवा एक तत्त्व स्वत: दूसरे तत्त्व को उत्पन्न करता है। सूत्रकार समाधान करते हैं—

(२३०) तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्स: ॥१३ ॥

सूत्रार्थ— तदभिध्यानात् = तत्त्व सृष्टि के भलीभाँति चिन्तन पूर्वक कथन से, एव = ही, तु = तो (यह सिद्ध होता है कि), स: = वह परमात्मा ही सबकी रचना करता है, तल्लिङ्गात् = क्योंकि उक्त लक्षण उसी के अनुरूप हैं।

व्याख्या— यहाँ सूत्र के 'अभिध्यान' पद का अर्थ है- संकल्पपूर्वक चिन्तन। प्रलय के पश्चात् परब्रह्म का सृष्टि सृजन के लिए संकल्प होता है। वह कारण एवं कार्य की व्यवस्था के विषय में चिन्तन करता है। यहाँ यह विचारणीय है कि चिन्तन रूप कर्म जड़ तत्त्व में कैसे सम्भव हो सकता है अर्थात् चेतन परब्रह्म परमात्मा में ही चिन्तन और संकल्पपूर्वक सृजन सम्भव हो सकता है, अत: यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म स्वयं ही उत्पन्न किए हुए एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व को उत्पन्न करता है। इसी उद्देश्य से एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व के उत्पत्ति की बात उत्पत्ति क्रम में कही गई है। स्वतंत्र रूप से कोई तत्त्व कारण नहीं बताया गया है। इसलिए स्पष्ट रूप से यही समझना चाहिए कि मुख्यतया सबका उत्पादक एक मात्र परब्रह्म परमेश्वर ही है, अन्य कोई नहीं ॥१३ ॥

इस प्रकार तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम के विषय में निश्चय किये जाने के पश्चात् प्रलय आने पर-तत्त्वों के प्रलय का

क्या क्रम रहता है ? शिष्य की इस जिज्ञासा का सूत्रकार समाधान करते हैं—

(२३१) विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

सूत्रार्थ— तु = परन्तु, अतः = इस प्रकार उत्पत्ति क्रम से, क्रमः = प्रलय-क्रम, विपर्ययेण = विपरीत होता है, च = तथा (स्मृति में भी ऐसा ही कथन है), उपपद्यते = ऐसा ही होना युक्तिसङ्गत है।

व्याख्या— जगत् की उत्पत्ति का जो क्रम उपनिषदों में बताया गया है, इसका उलट क्रम प्रलयकाल में होता है। पृथिवी से लेकर आकाश तक पिछला पूर्व में लीन होता जाता है। पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में तथा आकाश ब्रह्म में विलीन होता जाता है। इस कथन का सत्य यह है कि जिस प्रकार उत्पत्ति के समय कारण से कार्य का उद्भव होता है, उसी प्रकार प्रलयकाल में कार्य अपने कारण में विलीन हो जाता है। कारण से कार्य का होना 'सर्ग' तथा कार्य का कारण में लीन होना 'प्रतिसर्ग' कहलाता है। सूत्र से भी यही भाव स्पष्ट होता है कि उत्पत्तिक्रम को उलट देने से प्रलयक्रम उत्पन्न होता है। युक्ति से भी यही क्रम उपयुक्त लगता है जैसे जल से बर्फ बनता है और बर्फ पुनः अपने कारण जल में लय हो जाता है। स्मृतियों में भी ऐसा ही कथन देखा जाता है ॥१४॥

महाभूतों की उत्पत्ति एवं प्रलय का क्रम जान लेने के पश्चात् अब शिष्य मन, बुद्धि और इन्द्रियों की उत्पत्ति के विषय में जिज्ञासा प्रकट करता है कि इनकी उत्पत्ति भूतों से होती है या फिर ब्रह्म से। यदि ब्रह्म से, तो भूतों से पूर्व अथवा बाद में ? अतः इस जिज्ञासा का समाधान करने के उद्देश्य से आचार्य कहते हैं—

(२३२) अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो, विज्ञानमनसी = इन्द्रियाँ और मन, क्रमेण = उत्पत्ति क्रम से, अन्तरा = ब्रह्म और आकाश आदि भूतों के मध्य में होना चाहिए, तल्लिङ्गात् = क्योंकि (श्रुति में) ऐसा ही प्रमाण प्राप्त होता है, इति न = तो, ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि; अविशेषात् = श्रुति में किसी क्रम विशेष का वर्णन नहीं मिलता।

व्याख्या— मुण्डकोपनिषद् (२/१/३) में कहा गया है- **'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी'** अर्थात् इसी अविनाशी ब्रह्म से प्राण, मन एवं समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी से आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है। इस वर्णन में ब्रह्म से प्राण, मन और इन्द्रियों के पश्चात् आकाश आदि पंचभूतों की क्रमशः उत्पत्ति कही गई है। अतः ब्रह्म और आकाश के मध्य मन-इन्द्रियों का स्थान उपर्युक्त श्रुति के आधार पर निश्चित होता है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इस वर्णन में किसी क्रम विशेष का उल्लेख नहीं है; क्योंकि उक्त श्रुति के सम्पूर्ण प्रकरण को देखने से यह बात सिद्ध होती है कि प्राण, मन सहित इन्द्रियों की उत्पत्ति भी परमेश्वर से ही होती है तथा यह भी स्पष्ट होता है कि श्रुति का उद्देश्य किसी प्रकार से क्रम का प्रतिपादन करना नहीं है, बल्कि भिन्न-भिन्न कल्पों में विभिन्न क्रम से सृष्टि रचना का वर्णन ही श्रुतियों में पाया जाता है, इसलिए भी किसी एक क्रम विशेष को निश्चित नहीं माना जा सकता ॥१५॥

अभी तक के वर्णन में ब्रह्म को समस्त जड़-चेतन जगत् का प्रमुख कारण सिद्ध किया गया, जिससे ऐसा लगता है कि उस परमेश्वर से ही अन्य तत्त्वों की तरह जीवों की भी उत्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में शिष्य के मन में यह जिज्ञासा उठती है ब्रह्म का ही अंश होने के कारण जीवात्मा को जन्म-मरण से रहित, अविनाशी तथा नित्य माना गया है, तो फिर उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? सूत्रकार समाधान करते हैं—

(२३३) चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, चराचरव्यपाश्रयः = चर और अचर देह के सहारे, तद्व्यपदेशः = वह जन्म-मरण आदि का कथन, भाक्तः = गौण, स्यात् = हो सकता है; क्योंकि, तद्भावभावित्वात् = वह उन-उन शरीरों

के भाव से भावित रहता है।

व्याख्या— जीवात्मा वस्तुत: सर्वथा शुद्ध परब्रह्म का अंश, जन्म-मरण से रहित, नित्य एवं अविनाशी है, यह बात असंदिग्ध है, परन्तु यह जीव अपने परम्परागत कर्मों के अनुसार प्राप्त स्थावर और जंगम शरीरों के आश्रित है, इस कारण श्रुतियों में उन-उन शरीरों के देह धारण एवं मरण को गौण रूप से जीवात्मा का उत्पन्न होना और विनष्ट होना कहा गया है। सृष्टि के आरम्भ में इस जड़-चेतनात्मक जगत् का प्रकट होना ही उस परब्रह्म परमात्मा से इसका उत्पन्न होना और प्रलय के समय उस ब्रह्म में विलीन हो जाना ही विनाश होना है। (गीता ९/७-१०) के अनुसार जीवात्मा अजर-अमर है, वह न कभी जन्मता है, न मरता है। जीवात्मा में जन्म-मरण का प्रत्यक्षीकरण देह के संयोग-वियोग के आधार पर होता है। **'स वा अयं पुरुषो जायमान: शरीरमभिसम्पद्य मान: स उत्क्रामन् म्रियमाण:'** (बृ.उ. ४/३/८)' अर्थात् जब यह (जीवात्मा) पुरुष शरीर से युक्त होता है, तब जन्मा हुआ कहा जाता है और जब शरीर से उत्क्रमण कर जाता है, तब इसे मरा हुआ कहते हैं, वस्तुत: न यह कभी जन्मता है, न मरता है॥१६॥

इस तथ्य को पुष्ट करने के उद्देश्य से सूत्रकार आगे कहते हैं—

(२३४) नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य: ॥१७॥

सूत्रार्थ— आत्मा = जीवात्मा, न = वास्तव में उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि, अश्रुते: = श्रुति में भी ऐसा कथन नहीं मिलता, च = तथा, ताभ्य: = उन श्रुतियों से ही, नित्यत्वात् = इसकी नित्यता सिद्ध की गई है।

व्याख्या— श्रुतियों में कहीं भी जीवात्मा के उत्पत्ति-प्रलय के विषय में कोई बात नहीं मिलती, बल्कि वे जीवात्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन करती हैं। कठोपनिषद् (१/२/१८) के अनुसार, **'न जायते म्रियते वा विपश्चित् ...... अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे'** अर्थात् यह चेतन आत्मा न जन्मता है, न मरता है, यह अजन्मा, नित्य, सदा रहने वाला पुराण पुरुष है, शरीर के नाश होने पर इसका नाश नहीं होता। छान्दोग्योपनिषद् (६/११/३) में श्वेतकेतु को समझाते हुए उसके पिता ने कहा **'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते'** अर्थात् जीव से रहित हुआ यह शरीर ही मरता है, जीवात्मा नहीं मरता। बृहदारण्यक (४/५/१४) में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा- **'अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा'** अरे यह आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता। इस प्रकार जीवात्मा का नित्यत्व शब्द प्रमाण के आधार पर सिद्ध होता है॥१७॥

जीवात्मा की नित्यता को दृढ़ करने तथा उसके स्वरूप का प्रतिपादन करने हेतु आचार्य पुन: कहते हैं—

(२३५) ज्ञोऽत एव ॥१८॥

सूत्रार्थ— अत: = (वह नित्य है) इसलिए, एव = ही, ज्ञ: = ज्ञाता है- चेतन स्वरूप है।

व्याख्या— जीवात्मा के जन्म-मरण का निषेध करते हुए उसका नित्यत्व पूर्व सूत्रों में बताया गया, जिसके आधार पर यहाँ उसे चेतन स्वरूप एवं ज्ञाता सिद्ध किया। यहाँ सूत्रकार का आशय यह है कि जीवात्मा यदि जन्म-मरण से युक्त और अनित्य होता, तो ज्ञाता नहीं हो सकता। हर जीवात्मा पूर्व-काया का त्याग कर जब नया देह धारण करता है, तब पूर्व संस्कार एवं स्मृति के अनुसार स्तन-पानादि में स्वत: प्रवृत्त हो जाता है। पशु-पक्षियों को भी सन्तानोत्पादन का ज्ञान पूर्व के अनुभवजन्य स्मृति के आधार पर हो जाता है। इसी तरह बाल्यावस्था एवं युवावस्था की घटनाएँ एवं जानकारियाँ जिनकी स्मृति में रहती हैं, वह नहीं बदलतीं, यह अनुभव सभी का है। यदि आत्मा परिवर्तनशील होता, तो ज्ञाता कैसे हो सकता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा नित्य, अविनाशी होने के कारण ज्ञाता भी है॥१८॥

परिवर्तनशील काया में अपरिवर्तनशील नित्य जीवात्मा की बात को आचार्य प्रकारान्तर से पुनः सिद्ध करते हैं—

(२३६) उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥१९ ॥

सूत्रार्थ— उत्क्रान्ति-गति-आगतीनाम् = (एक ही जीवात्मा के) शरीर से निकलने, अन्य देह (परलोक) में जाने तथा पुनः लौटकर आने का श्रुतियों में वर्णन है।

व्याख्या— श्रुतियों में जीवात्मा के शरीर त्याग के पश्चात् परलोक में जाने तथा वहाँ से पुनः लौटकर आने का वर्णन है। शरीर त्याग तो प्रत्यक्ष देखा जाता है। कठोपनिषद् (२/२/७) में वर्णन आता है- **'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः'** अर्थात् मरने के बाद जीवात्माएँ अपने-अपने कर्मानुसार कुछ तो वृक्षादि अचल शरीर को तथा कुछ देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जङ्गम शरीरों को धारण कर लेते हैं। जीव के सत्कर्म वश ऊर्ध्व लोकों में जाने या मोक्ष होने अथवा उन लोकों से लौटने का भी वर्णन है। प्रश्नोपनिषद् (५/४) में कहा है-**'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते'** अर्थात् स्वर्ग में नाना प्रकार के ऐश्वर्यों का भोग करके जीव पुनः मृत्युलोक में लौट आता है। इससे यही प्रमाणित होता है कि शरीर के नाश से अविनाशी जीवात्मा का नाश नहीं होता, वह नित्य और अपरिवर्तनशील है ॥१९ ॥

पूर्व कथन के आधार पर ही आचार्य पुनः आत्मा का नित्यत्व सिद्ध करते हैं—

(२३७) स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२० ॥

सूत्रार्थ— उत्तरयोः = आवागमन के रूप में कही गई दोनों क्रियाओं की सिद्धि, स्वात्मना = अपने स्वरूप से,च = ही होती है। (इसलिए भी आत्मा नित्य है।)

व्याख्या— उत्क्रान्ति अर्थात् देह का वियोग। ऐसा तो आत्मा को अनित्य मानने पर भी होगा ही, किन्तु बाद के कथन गति और आगति अर्थात् परलोक में जाने और वहाँ से लौटकर आने -आवागमन रूप दोनों क्रियाएँ अपने स्वरूप से ही सिद्ध होती हैं। जो परलोक में जायेगा, वही स्वयं लौटकर आयेगा, अन्य नहीं। इससे सिद्ध होता है कि शरीर नाशवान् है, आत्मा अविनाशी है अर्थात् शरीर के नष्ट होने से आत्मा नष्ट नहीं होती ॥२० ॥

अभी तक श्रुति प्रमाण के आधार पर आत्मा का नित्यत्व सिद्ध किये जाने के साथ ही जीवात्मा को गमनागमनशील बताया गया। इस बात की सत्यता के आधार पर तो आत्मा को विभु न मानकर उसे एक देशीय मानना पड़ेगा, अतः उसका नित्यत्व भी गौण होगा। पूर्वपक्ष की ओर से उठाई गई इस आशंका के निराकरण के लिए अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

(२३८) नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१ ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो कि, अणुः = जीवात्मा अणु, न = नहीं है, अतच्छ्रुतेः = क्योंकि श्रुति में उसको अणु न कहकर विभु बताया गया है, इति न = तो यह कहना ठीक नहीं, इतराधिकारात् = क्योंकि वहाँ आत्मा से भिन्न अर्थात् परमात्मा का प्रकरण है।

व्याख्या— बृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/२२) का कथन है- **'स वा एष महाजन आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु'** अर्थात् जो यह प्राणों से आवृत विज्ञानमय आत्मा है, यह महान् व अजन्मा है। तथा मुण्डक उपनिषद् (३/१/९) के अनुसार **'यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा'** जिसके विशुद्ध हो जाने पर यह आत्मा विभु जाना जाता है अर्थात् चित्त के शुद्ध हो जाने पर आत्मा की विभुता का पता लग जाता है। इस प्रकार श्रुति वर्णनों को लेकर यदि यह कहें कि जीवात्मा अणु नहीं, व्यापक है, तो ऐसा कहना युक्तिसङ्गत नहीं हैं; क्योंकि श्रुति का जो प्रसङ्ग 'आत्मा' को महान् कहकर उसकी विभुता को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया गया है- वहाँ 'आत्मा' शब्द जीवात्मा का वाचक न होकर परमात्मा के प्रकरण का है।

अब जीव की अणुता में शब्दप्रमाण का कथन करते हैं—

(२३९) स्वशब्दानुमानाभ्यां च ॥२२॥

सूत्रार्थ— च = भी, स्वशब्दानुमानाभ्याम् = श्रुति में स्वशब्द तथा अनुमान अर्थात् परिमाण बोधक वाक्यों से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

व्याख्या— मुण्डकोपनिषद् (३/१/९) में - **'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'** कहकर अणु परिमाण वाले आत्मा को चित्त से जानने योग्य कहा है तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् (५/९) में कहा- **'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः'** अर्थात् जिस प्रकार बाल के अग्रभाग का सौंवा भाग करके फिर उसका सौंवा भाग करने से वह जितना सूक्ष्म होता है, इसी प्रकार जीव का सूक्ष्म रूप जानना चाहिए।' अतः ये दोनों बातें आत्मा के अणु परिमाण को सिद्ध करती हैं॥२२॥

शिष्य आशंका करता है कि यदि जीवात्मा अणु है, तो शरीर के एकदेश में स्थित रहकर समस्त शरीर को चेतनता कैसे दे सकता है? अथवा दुःख-सुख आदि का अनुभव कैसे कर सकता है? सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

(२४०) अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

सूत्रार्थ— चन्दनवत् = चन्दन की तरह, अविरोधः = जीव के अणुवाद में कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या— जीवात्मा को अणु मान लेने पर समस्त शरीर में उसको होने वाले सुख-दुःख आदि की अनुभूति होना असंगत प्रतीत होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि जिस तरह से शरीर के किसी एक अंग में लगाये गये चंदन बिन्दु से उसके गंधरूप गुण से सर्वाङ्ग में आह्लाद का संचार होता है, जिसका आधार समस्त देह में फैली हुई ज्ञानवाही तंत्रिकाएँ होती हैं, उसी प्रकार देह के एक देश-मस्तिष्कगत हृदयदेश में स्थित आत्मा समस्त शरीर में फैले अपने विज्ञानरूप गुण के आधार पर सर्वाङ्ग में चेतनता का संचार एवं सुख-दुःख आदि की अनुभूति किया करता है, इसमें कोई विरोध नहीं। अतः जीवात्मा के अणु-परिमाण में इससे कोई व्यवधान नहीं आता॥२३॥

आत्मा की स्थिति देह में एक देशीय है, सूत्रकार आक्षेपपूर्वक इसकी सिद्धि के उद्देश्य से आगे कहते हैं—

(२४१) अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि॥२४॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो, अवस्थिति-वैशेष्यात् = चंदन और आत्मा की स्थिति में भेद है, इसलिए (चंदन का दृष्टान्त असङ्गत है), इति न = तो ऐसा नहीं है, हि = क्योंकि निस्सन्देह, हृदि = हृदयदेश में, अभ्युपगमात् = उसकी स्थिति मानी गई है।

व्याख्या— यदि यह कहा जाये कि देह के किसी एक देश में चन्दन की स्थिति प्रत्यक्ष है; परन्तु आत्मा का एक देशवर्ती होना अप्रत्यक्ष है, इसलिए चन्दन का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्र द्वारा हृदय में आत्मा की स्थिति को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। प्रश्नोपनिषद् (३/६) में कहा गया है- **'हृद्येष आत्मा'** अर्थात् 'निश्चित रूप से यह आत्मा हृदयदेश में निवास करता है। छान्दो० (८/३/३) में कहा गया है - **'स वा एष आत्मा हृदि'** अर्थात् निश्चय करके वह यह आत्मा हृदयदेश में विराजमान है। इसी प्रकार बृह० उप० (४/३/७) में बताया- **'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'** आत्मा कौन है, यह पूछने पर कहा- 'जो यह ज्ञाता प्राणों के बीच घिरा हुआ हृदयदेश के अन्दर विज्ञानमय ज्योति स्वरूप पुरुष है'। उपनिषद् के प्रस्तुत अनेक प्रसङ्गों में आत्मा का अणुत्व एवं हृदयदेश में निवास निश्चित होने पर पूर्वसूत्र में उद्धृत चन्दन दृष्टान्त में कोई वैषम्य नहीं है॥२४॥

प्रकारान्तर से आचार्य उपर्युक्त कथन को आगे कहते हैं—

(२४२) गुणाद्वा लोकवत्॥२५॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा (अणु परिमाण वाले आत्मा का), गुणात् = चेतनता रूप गुण से समस्त शरीर को सम्पन्न कर देना सम्भव है, लोकवत् = क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है।

व्याख्या— सूत्रकार का कथन है कि जिस प्रकार लोक में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि भवन के किसी एक देश में स्थित दीपक अपने प्रकाश रूप गुण के द्वारा सम्पूर्ण भवन को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार देह के एक देश में स्थित अुणमाप वाला आत्मा चेतनता रूप अपने गुण से सम्पूर्ण काया को चैतन्य कर देता है। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए गीता (१३/३३) में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया है- **'यथा प्रकाशयत्येक: कृत्स्नं लोकमिमं रवि:'। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत'** अर्थात् जिस प्रकार एक सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा सारे संसार को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ-जीवात्मा सब क्षेत्र को अर्थात् शरीर को प्रकाशित करता है। इस प्रकार जीवात्मा का एक देशीय अणुमाप वाला होना सिद्ध होता है ॥२५॥

गुण अपने गुणी से अलग किस प्रकार हो सकता है ? शिष्य की इस जिज्ञासा का आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं—

(२४३) व्यतिरेको गन्धवत्॥२६॥

सूत्रार्थ— गन्धवत् = गन्ध के समान, व्यतिरेक: = गुण का गुणी से पृथक् होना सम्भव है।

व्याख्या— यहाँ यह समझना ठीक नहीं कि गुण तो गुणी के साथ ही रहता है, वह गुणी से पृथक् होकर कोई कार्य किस प्रकार कर सकता है, क्योंकि जिस प्रकार पुष्प का गन्ध-गुण अपने गुणी से पृथक् दूर भी प्रतीत होता है, उसी प्रकार जीवात्मा का चेतनत्व गुण भी आत्मा से पृथक् होकर देह के समस्त अवयवों में व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार गुण का अपने गुणी से पृथक्ता में कोई विरोध नहीं है॥२६॥

इस बात को पुष्ट करने हेतु आचार्य उपयुक्त श्रुति प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(२४४) तथा च दर्शयति॥२७॥

सूत्रार्थ— तथा = ऐसा, च = ही, दर्शयति = श्रुति भी दिखलाती है।

व्याख्या— केवल युक्ति से ही नहीं, श्रुति से भी यह बात सिद्ध होती है कि आत्मा एक जगह स्थित रहकर अपने गुण के द्वारा समस्त शरीर में व्याप्त रहता है। छान्दोग्य (८/८/१) **'सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्य: प्रतिरूपमिति'** के अनुसार इन्द्र और विरोचन जलपात्रों में अपनी आकृति देखते हुए प्रजापति द्वारा पूछे जाने पर कह रहे हैं- हे भगवन्! इस सम्पूर्ण लोम-नख पर्यन्त आत्मा को हम देख रहे हैं। इस प्रकार **'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य शरीरेण सुख-दु:खे आप्नोति '**(कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्-३/६) के अनुसार यह आत्मा अपने ज्ञान साधनों के सहित देह में स्थित होकर शरीर से सुख-दु:ख को प्राप्त करता है। इन विवेचनों के आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि आत्मा अणु परिमाण वाला है॥२७॥

अब सूत्रकार जीवात्मा और उसके ज्ञान-गुण का पृथक्-पृथक् उपदेश-कथन आरम्भ करते हैं—

(२४५) पृथगुपदेशात्॥२८॥

सूत्रार्थ— पृथक् = ज्ञाता से अलग, उपदेशात् = उपदेश होने से भी जीव का नित्यज्ञान सिद्ध है।

व्याख्या— गत सूत्र में उद्धृत कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् (३/६) के वाक्य से स्पष्ट है कि देह में समारूढ़ कर्त्ता-भोक्ता-चेतन आत्मा तथा अचेतन बुद्धि आदि ज्ञान के साधन पृथक् हैं, अत: बुद्धि और आत्मा को एक नहीं माना जा सकता। कठोपनिषद् (१/३/३-४) में भी प्रकारान्तर से इन तत्त्वों का पृथक् उपदेश किया गया

है- **'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च'** अर्थात् यह शरीर एक रथ के समान है, इसमें बैठने वाला स्वामी आत्मा रथी है। इस रथ में इन्द्रियाँ घोड़े के समान हैं, मन उनकी लगाम और बुद्धि (ज्ञान) सारथि है। विचारशील विद्वानों ने इन साधनों से संयुक्त आत्मा को भोक्ता कहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि चेतन-ज्ञाता आत्मा पृथक् तत्त्व है, तथा उसके साधन रूप अचेतन-बुद्धि आदि पृथक् हैं। बुद्धि के ब्रह्म से विमुख रहने के कारण ज्ञान अप्रकट रहता है और ब्रह्म का चिंतन करने से अज्ञान का आवरण हट जाने से नित्य ज्ञान प्रकट हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञाता-आत्मा का ज्ञान-गुण उससे पृथक् है ॥२८॥

शिष्य को यह जिज्ञासा होती है कि उपनिषदों में आत्मा को अङ्गुष्ठमात्र कहा है, तो फिर वह अणुपरिमाण वाला कैसे कहा जा सकता है? सूत्रकार समाधान करते हैं—

(२४६) तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्॥२९॥

सूत्रार्थ— तद्व्यपदेशः = वह अङ्गुष्ठमात्र का कथन, तु = तो, तद्गुणसारत्वात् = उसके गुणों की प्रधानता को लेकर है, प्राज्ञवत् = जैसे ब्रह्म को प्राज्ञ कहा गया है।

व्याख्या— आत्मा का निवास स्थान मस्तिष्क के हृदय देश में माना गया है, जिसकी रचना अंगुष्ठों के मिश्रित पृष्ठभाग की तरह होने के कारण ही श्रुति में उसे अंगुष्ठ संज्ञा प्रदान की गई है। **'अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकार समन्वितो यः। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः'** (श्वेता.उ. ५/८) अर्थात्- जो अङ्गुष्ठ मात्र परिमाण वाला, सूर्य के समान प्रकाश स्वरूप तथा संकल्प व अहंकार से युक्त है, वह बुद्धि और शरीर के गुणों से ही आरे (लकड़ी काटने का यन्त्र) की नोंक जैसे सूक्ष्म आकार वाला है-- ऐसा परमात्मा से भिन्न जीवात्मा भी निःसंदेह ज्ञानियों द्वारा देखा गया है।' इसी प्रकार कठोपनिषद् (२/१/१२) कहता है- **'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ईशानो भूतभव्यस्य'** अर्थात् जो समस्त अतीत, अनागत, चर-अचर जगत् का नियन्ता है, वह अंगुष्ठ मात्र परमात्मा मध्य आत्मा में स्थित है। यहाँ औपचारिक रूप से जीवात्मा या परमात्मा के लिए अंगुष्ठ मात्र पद का प्रयोग इसलिए किया गया है; क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा का साक्षात्कार जीवात्मा को अपने निवास स्थान हृदयदेश में होता है,जिसकी रचना अंगुष्ठ के समान होती है ॥२९॥

शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि जीवात्मा को बुद्धि आदि करणों तथा उत्तम शरीर रचना के द्वारा ज्ञानादि की प्राप्ति हो जाती है,यह ठीक है; परन्तु मृत्यु काल अथवा प्रलयकाल में देह के छूट जाने पर अनित्य बुद्धि आदि का सम्बन्ध भी आत्मा से नहीं रहने पर जीवों की मुक्ति हो जायेगी। अतः प्रलय के पश्चात् सृष्टि भी नहीं हो सकेगी। यदि मुक्त जीवों का पुनर्जन्म होना मान लिया जाये, तो मोक्ष के अभाव का दोष उपस्थित होगा। सूत्रकार समाधान करते हैं-

(२४७) यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्॥३०॥

सूत्रार्थ— यावदात्मभावित्वात् = जब तक आत्मा संसारी है, तब तक वह शरीर के अनुरूप रहता है, इसलिए, च = भी, दोषः = उक्त दोष, न = नहीं है, तद्दर्शनात् = श्रुति भी यही दर्शाती है।

व्याख्या— श्रुति कहती है कि आत्मा की संसारी अवस्था में, देहत्याग अथवा देहान्तर दशाओं में भी बुद्धि आदि करणों का नाश नहीं होता, उसका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से हमेशा बना रहता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४/३/७) में कहा है- **'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः, स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव'** जनक ने पूछा आत्मा कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया-- जो यह प्राणों में चित्तवृत्तियों के भीतर स्थित विज्ञानमय ज्योति पुरुष आत्मा है, वह बुद्धि आदि करणों सहित समान रूप से दोनों लोकों (इहलोक और परलोक) में संचरित होता है। इस उपनिषद् सन्दर्भ में

'विज्ञान' पद का अर्थ 'बुद्धि' है। इस प्रकार जीवात्मा अपनी संसारी अवस्था में हमेशा बुद्धि आदि करणों से परिवेष्टित बना रहता है तथा सुषुप्ति व प्रलयकाल में भी कर्म संस्कारों के सहित काया से जीवात्मा का सम्बन्ध रहता है और यह अवस्था तब तक रहती है, जब तक कि उसे अपने स्वरूप का बोध नहीं हो जाता। इसलिए सुषुप्ति और प्रलयकाल में समस्त जीवात्माओं के मुक्त होने तथा मुक्त पुरुषों के पुनर्जन्म आदि का कोई दोष नहीं उपस्थित होता॥३०॥

शिष्य के मन में जिज्ञासा होती है कि प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् के ब्रह्म में विलीन होने पर बुद्धि आदि की ब्रह्म से अभिन्नता की स्थिति में उनका जीवात्मा के साथ सम्बन्ध कैसे रह सकता है? और यदि उस समय सम्बन्ध नहीं रहता, तो सर्गकाल में कैसे हो जाता है? सूत्रकार समाधान करते हैं—

(२४८) पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्॥३१॥

सूत्रार्थ— पुंस्त्वादिवत् = पुरुषत्व आदि की तरह, सतः = पहले से विद्यमान, अस्य = इसका, तु = तो, अभिव्यक्तियोगात् = अभिव्यक्ति के साथ सम्बन्ध होने से (कोई दोष नहीं है)।

व्याख्या— यद्यपि प्रलयकाल में बुद्धि आदि सभी तत्त्व अपने कारण रूप परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं, तथापि वे सब उसी ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के रूप में अव्यक्त रूप से वहाँ विद्यमान रहते हैं। प्रश्नोपनिषद् (४/११) कहता है- **'विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति।'** हे सोम्य! जिस अविनाशी परब्रह्म में समस्त देवगण, समस्त प्राण और समस्त भूत भली प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं, उसे जानने वाला सर्वज्ञाता भी उसी (परमात्मा) में प्रविष्ट हो जाता है। श्रुति के इस कथन का आशय यह है कि समस्त जीवात्माएँ स्व-स्व कर्मानुसार संस्कार ग्रहण करके सूक्ष्म एवं कारण शरीरों के साथ अव्यक्त रूप से उस ब्राह्मी सत्ता में प्रतिष्ठित रहती हैं, उनके सम्बन्धों का पूर्णतया नाश नहीं होता है तथा बाल्यावस्था से ही बीज रूप में पुरुष में विद्यमान पुंस्त्व जिस प्रकार तरुणावस्था में शक्ति-संयोग से अभिव्यक्त हो जाती है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में कारण अथवा बीज रूप में प्रतिष्ठित समस्त जीवात्माएँ सर्ग-रचना काल में परमात्मा के संकल्प से सूक्ष्म और स्थूल रूपों में प्रकट हो जाती हैं। साधना की तपःशक्ति से पवित्र हुए साधक का अंतःकरण शुद्ध और व्यापक हो जाता है, जिसके कारण उसमें दूरदर्शन एवं दूरश्रवण की शक्ति आ जाती है; क्योंकि पूर्व से ही सर्वत्र संव्याप्त आत्मा अंतःकरण और स्थूल काया के साथ जुड़ाव से ही उसके अनुरूप आकार के रूप में देखा जाता है॥३१॥

शिष्य की इस जिज्ञासा पर कि स्वयं प्रकाशवान् जीवात्मा को मन, बुद्धि आदि के संयोग से वस्तु एवं विषयों का ज्ञान होता है, ऐसा मानने की आवश्यकता क्या है? इस पर आचार्य कहते हैं—

(२४९) नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा॥३२॥

सूत्रार्थ— अन्यथा = जीवात्मा को अन्तःकरण के संयोग से विषय ज्ञान होता है, ऐसा न मानने पर, नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः = उसे सदैव विषयों के अनुभव होने का या कभी न होने का प्रसङ्ग उपस्थित होगा, वा = अथवा, अन्यतरनियमः = आत्मा की ग्राहक-शक्ति अथवा विषय की ग्राह्यशक्ति के नियमन की कोई अन्य कल्पना करनी पड़ेगी।

व्याख्या— यदि ऐसा न माना जाये कि यह जीवात्मा अंतःकरण के संयोग से सभी विषयों का अनुभव करता है, तो प्रत्यक्ष में जो यह देखा जाता है कि कभी जीवात्मा विषय का अनुभव करता है, कभी नहीं करता। कभी किसी दृश्य को देखता है, कभी नहीं देखता। उपर्युक्त प्रत्यक्ष बात को मिथ्या माननी पड़ेगी; क्योंकि प्रकाश स्वरूपा होने के कारण जीवात्मा को स्वतः अनुभव करने वाला मानेंगे, तब तो इसे हमेशा एक साथ सभी विषयों का ज्ञान रहता है, ऐसा मानना पड़ेगा। जानने की शक्ति स्वाभाविक न मानने की स्थिति में कभी किसी

भी काल में न मानने का प्रसङ्ग आ जायेगा या दोनों में से किसी एक शक्ति अर्थात् जीवात्मा की ग्राहक शक्ति अथवा विषय की ग्राह्य शक्ति का प्रतिबन्ध मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर ग्राह्य के नियन्त्रित होने पर विषय की प्राप्ति नहीं होती और नियन्त्रण हट जाने पर विषयोपलब्धि होती है। अत: अंत:करण के सम्बन्ध को ही मानना उपयुक्त है; क्योंकि **'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति'** (बृह.उ. १/५/३) अर्थात् मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है, इत्यादि श्रुति कथन की भी ऐसी ही स्वीकृति है। अंत:करण से सम्बन्ध रहते हुए भी जीवात्मा कभी कार्य रूप में प्रत्यक्ष रहता है, कभी कारण रूप में अप्रत्यक्ष।

अब जड़ प्रकृति अथवा जीवात्मा में से कर्त्ता कौन है, इसका निर्धारण करने के लिए सूत्रकार द्वारा अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

(२५०) कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्॥३३॥

सूत्रार्थ— शास्त्रार्थवत्त्वात् = शास्त्र में बताए गये अर्थ वाला होने से, कर्त्ता = जीवात्मा कर्त्ता है।

व्याख्या— शास्त्रों में जीवात्मा के उद्देश्य से कर्त्तव्य कर्मों का विधान तथा अकर्त्तव्य का निषेध किया गया है। शास्त्र में बार-बार जो यह कथन आता है कि अमुक कार्य करणीय है, अमुक अकरणीय है, अमुक शुभ कर्म से कर्त्ता को अमुक श्रेष्ठ फल मिलता है, अमुक पाप कर्म से कर्त्ता को अमुक कष्ट भोगना पड़ता है; इत्यादि, इन समस्त निर्देशों का संकेत जीवात्मा को ही कर्त्ता मानने के उद्देश्य से ठीक जान पड़ता है। प्रश्नोपनिषद् (४/९) स्पष्ट शब्दों में जीवात्मा को कर्त्ता बतलाता है- **'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः'** अर्थात् यह विज्ञानात्मा पुरुष ही द्रष्टा (देखने वाला), स्प्रष्टा (स्पर्श करने वाला), श्रोता (सुनने वाला), घ्राता (सूँघने वाला), रसयिता (रस लेने वाला), मन्ता (मनन करने वाला), बोद्धा (जानने वाला) तथा कर्त्ता (कर्म करने वाला) है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् (५/७) के अनुसार **'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता'** अर्थात्' जो गुणों से युक्त, फलप्राप्ति के उद्देश्य से कर्म करने वाला और अपने किये गये कर्म के फल का उपभोग करने वाला जीवात्मा है, इन सब वर्णनों से जीवात्मा का कर्त्ता होना निश्चित होता है॥३३॥

जीवात्मा के कर्त्ता होने के इसी विषय में सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

(२५१) विहारोपदेशात्॥३४॥

सूत्रार्थ— विहारोपदेशात् = श्रुतियों के (स्वप्न में स्वेच्छा से) विहार के उपदेश से भी (जीवात्मा का कर्त्ता होना सिद्ध होता है)।

व्याख्या— 'विहार' अर्थात् स्वेच्छापूर्वक भ्रमण या आचरण करना। **'स यत्रेतत्स्वप्न्ययाचरति ....स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते'** (बृह. उ. २/१/१८) के अनुसार जब यह जीवात्मा स्वप्नवृत्ति अथवा स्वप्नावस्था में होता है, तब उसके लोक अर्थात् कृत कर्मों के प्रतिफल उदित होते हैं। उस समय वह विभिन्न प्रकार की स्थितियों को प्राप्त करता हुआ कभी महाराज, कभी महाब्राह्मण, कभी उच्चावस्था और कभी निम्नावस्था को प्राप्त होता है। वह जीवात्मा प्रजा के साथ गमन करने के समान ही प्राणेन्द्रियों को लेकर शरीर में यथेच्छ स्थलों पर भ्रमण करता है। इसी प्रकार (बृह.उ. ४/३/१२) में कहा- **'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं ....पुरुष एकहथ्सः'** अर्थात् वह अनश्वर और हिरण्मय जीवात्म पुरुष अपने शरीर रूपी घोसले की रक्षा करता हुआ, इस शरीर को परित्यक्त करके बर्हिगमन करता है। वह अमृत पुरुष जहाँ कामना (वासना) होती है, वहीं चला जाता है, अर्थात् उन विषयों का अनुभव करता है। इन प्रसंगों से जीवात्मा का कर्त्ता होना सिद्ध होता है, क्योंकि जड़ प्रकृति में स्वेच्छापूर्वक कर्म की प्रवृत्ति नहीं होती॥३४॥

इसी विषय में सूत्रकार तीसरा कारण प्रस्तुत करते हैं—

(२५२) उपादानात्॥३५॥

सूत्रार्थ— उपादानात् = इन्द्रियों के ग्रहण से भी (आत्मा को कर्त्ता मानना सिद्ध होता है)।

व्याख्या— यहाँ 'उपादान' शब्द 'ग्रहण' रूप क्रिया का बोधक है। उपनिषद्कार कहते हैं- **'य एष विज्ञानमयः .....श्रोत्रं गृहीतं मनः'** (बृह.उ. २/१/१७) अर्थात् जब वह '(जीवात्मा) विज्ञानमय पुरुष प्रसुप्तावस्था में था, तब अपनी विज्ञान की शक्ति से समस्त इन्द्रियों की शक्ति को अपने में एकत्र कर लिया था। सुप्त स्थिति में जीवात्मा हृदयाकाश में स्थित रहकर इन्द्रियों को ग्रहण करता है। उस समय इसे **'स्वपिति'** कहते हैं। उस समय प्राण, नेत्र, श्रोत्र और मन सभी गृहीत स्थिति में होते हैं। यहाँ जीवात्मा को इन्द्रियों की विषयशक्ति का आदाता कहा है, आदाता कभी अकर्त्ता नहीं हो सकता। आगे भी प्राणान् गृहीत्वा (बृह.उ. २/१/१८) के अनुसार भी उसे (जीवात्मा को) प्राणो का गृहीता कहा गया है। अतः आत्मा ही उपादान क्रिया के आधार पर कर्त्ता प्रमाणित होता है॥३५॥

सूत्रकार प्रकारान्तर से आत्मा के कर्त्तापन को प्रमाणित करते हैं—

(२५३) व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः॥३६॥

सूत्रार्थ— क्रियायाम् = क्रिया करने में, व्यपदेशात् = जीवात्मा का कर्त्ता होना श्रुति में कहा गया है, इसलिए, च = भी (जीव कर्त्ता है), चेत् = यदि, न = आत्मा को कर्त्ता बताना अभीष्ट न होता, तो; निर्देशविपर्ययः = श्रुति की मान्यता का विरोध होता।

व्याख्या— तैत्तिरीय उपनिषद् (२/५/१) में कहा गया है- **'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च'** विज्ञान (विज्ञानवान् पुरुष) अर्थात् यह जीवात्मा ही यज्ञ का विस्तार करता है और उस हेतु लौकिक कर्मों को करता है। यहाँ 'विज्ञान' पद जीवात्मा का बोधक है और उसे स्पष्टतया वैदिक एवं लौकिक कर्मों का विस्तार करने वाला बताकर उसके कर्त्तापन को सिद्ध किया गया है। यदि 'विज्ञान' पद को जीव का वाचक न मानकर बुद्धि का वाचक मानें, तो यह श्रुति प्रसङ्ग के विपरीत होगा; क्योंकि वहाँ जीवात्मा का ही प्रकरण है। यदि 'विज्ञान' शब्द से बुद्धि को ग्रहण करना अभीष्ट रहा होता, तो करण द्योतक तृतीया विभक्ति का प्रयोग करके 'विज्ञानेन' शब्द कहा जाता। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ 'विज्ञान' पद को आत्मा का बोधक बताकर कर्त्तारूप में उसका वर्णन किया गया है॥३६॥

यहाँ शिष्य के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यदि जीवात्मा स्वतंत्र कर्त्ता है, तो उसे अपने हित का ही सम्पादन करना चाहिए, जबकि उसकी प्रवृत्ति इसके विपरीत भी देखी जाती है, अतः उसे कर्त्ता नहीं माना जाना चाहिए। समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(२५४) उपलब्धिवदनियमः॥३७॥

सूत्रार्थ— उपलब्धिवत् = सुख-दुःखादि भोगों की उपलब्धि के समान, अनियमः = कर्म करने में भी नियम नहीं है।

व्याख्या— जिस तरह जीवात्मा को सुख-दुःख आदि भोगों की उपलब्धि होती रहती है, कोई ऐसा सुनिश्चित नियम व व्यवस्था नहीं है कि उसे केवल प्रिय की प्राप्ति हो अप्रिय की न हो, उसी प्रकार कर्म करने में भी कोई नियम नहीं है। वह शुभ अथवा अशुभ, हितकारक अथवा अहितकारक कैसा भी कर्म करने में स्वतंत्र है। अतः जीवात्मा का कर्त्ता होना सिद्ध होता है। आशय यह है, कि जीव को प्रिय-अप्रिय की प्राप्ति उसके कर्मों के अनुसार है, वे कर्म स्वतन्त्रतापूर्वक किये हुए हैं, जिनका भोग प्रारब्ध के अनुसार ईश्वर

निर्धारित करता है। वैसे ही अनादिकाल से संचित कर्मानुसार बने स्वभाव-संस्कार के वशीभूत होकर जीव शुभ अथवा अशुभ कर्म करने के लिए भी बाधित होता है। प्रभु समर्पित जीवन में विवेक का आश्रय लेकर प्रमाद से दूर रहते हुए जीव अपने स्वभाव का परिष्कार कर अशुभ कर्मों से निवृत्ति एवं शुभ कर्मों में प्रवृत्ति की ओर बढ़ सकता है॥३७॥

इस कथन की पुष्टि के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

(२५५) शक्तिविपर्ययात्॥३८॥

सूत्रार्थ— शक्तिविपर्ययात् = शक्ति के विपरीत होने के कारण भी (उसके द्वारा स्वहित के कर्मों का आचरण होने का नियम नहीं हो सकता।)

व्याख्या— जीवात्मा का कर्त्तापन उसके अनादि कर्म संस्कारों तथा इन्द्रिय-देहादि से सम्बन्ध के कारण है, स्वरूप से नहीं है। अत: वह निरन्तर अपने हित का आचरण नहीं कर सकता, क्योंकि कोई भी कर्म करने में सहकारी कारणों एवं बाहरी साधनों की आवश्यकता पड़ती है, इन सबकी प्राप्ति में यह पूर्णतया परतन्त्र है तथा अंत:करण, इन्द्रियों एवं शरीरादि की शक्ति भी अनुकूल हो, यह आवश्यक नहीं। अत: प्रतिकूल साधनों की उपलब्धि पर अहितकर कार्यो का सम्पादन भी सम्भव होता है। इस प्रकार शक्ति के विपरीत आचरण में भी इच्छित फल की प्राप्ति सम्भव नहीं है॥३८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है कि स्वरूप से ही जीवात्मा का कर्त्तापन मान लेने में क्या हानि है? आचार्य समाधान करते हैं—

(२५६) समाध्यभावाच्च॥३९॥

सूत्रार्थ— समाध्यभावात् = समाधि की अवस्था का अभाव प्राप्त होने से, च = भी (जीव का कर्त्तापन स्वाभाविक नहीं मानना चाहिए)।

व्याख्या— समाधि की अवस्था में कर्मों का नितान्त अभाव पाया जाता है। कर्त्तापन को जीव का स्वाभाविक धर्म मान लेने पर तो समाधि अवस्था की असिद्धि होगी; क्योंकि चेतनता जिस प्रकार जीव का स्वाभाविक धर्म है, कर्म को भी उसी प्रकार स्वाभाविक धर्म मान लिये जाने पर जीव कभी निष्क्रिय अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकेगा, जबकि शास्त्र में जीवात्मा के स्वरूप को निष्क्रिय बताया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६/१२) में कहा है- **'एको वशी निष्क्रियाणां ...... नेतरेषाम्'** अर्थात् अद्वितीय परमात्मा सबका अधीश्वर है, जो बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेक रूपों में परिणत कर देता है, उस हृदय गुहा में अवस्थित परमेश्वर को जो धीर पुरुष (अनुभूतिजन्य दृष्टि से) देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं। अत: जीव का कर्त्तापन स्वरूपगत नहीं, बल्कि वह अनादिसिद्ध अन्त:करण के सम्बन्ध से है॥३९॥

उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए आचार्य कहते हैं—

(२५७) यथा च तक्षोभयथा॥४०

सूत्रार्थ— च = और, यथा = जैसे, तक्षा = शिल्पी, उभयथा = (कभी कर्म करता है, कभी नहीं करता) इस तरह दो प्रकार की स्थिति में रहता है, वैसे ही जीवात्मा भी दोनों स्थितियों में रहता है।

व्याख्या— जिस प्रकार अपने विविध औजारों से नाना प्रकार की वस्तुओं की रचना करने वाला शिल्पी जब तक शिल्प कार्य में लगा रहता है, तब तक वह उस कार्य का कर्त्ता होता है और जब उस शिल्प कार्य से अलग हो जाता है, तब उसका कर्त्ता नहीं होता है। इसी प्रकार जीवात्मा भी जब अपने अन्त:करण-इन्द्रियादि साधनों का स्वामी होकर उनके द्वारा कार्य करता है, तब वह कार्य का कर्त्ता होता है तथा इन्द्रियादि से सम्बन्ध

विच्छेद हो जाने पर वह कर्त्ता नहीं रहता है। अत: जीवात्मा का कर्त्तापन स्वभाव सिद्ध नहीं है ॥४० ॥

उपर्युक्त सूत्रों के माध्यम से यह निश्चित किया गया कि प्रकृति स्वतंत्र कर्त्ता नहीं है और जीव का कर्त्तापन भी स्वरूपगत नहीं। मन, बुद्धि, इन्द्रियादि के सम्बन्ध से है। अत: यहाँ शिष्य के मन में यह जिज्ञासा होती है कि जीवात्मा का कर्त्तापन स्वाधीन है अथवा पराधीन। समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

(२५८) परात्तु तच्छ्रुते: ॥४१ ॥

सूत्रार्थ— तत् = उस जीव का कर्त्तापन, परात् = परमेश्वर से, तु = ही है, श्रुते: = श्रुतियों का ऐसा ही कथन है।

व्याख्या— बृहदारण्यकोपनिषद् (३/७/२२) में कहा गया है- '**यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत:**' अर्थात् 'जो विज्ञान में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, किन्तु विज्ञान उससे अपरिचित है, वह अन्तरात्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है' तथा छान्दोग्योपनिषद् (६/३/२) में बतलाया गया है- '**तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणीति**' अर्थात् 'मैं इस जीवात्म रूप से इन तीनों देवता (तेज, अप् एवं पृथ्वी) में अनुप्रवेश कर उसके नाम एवं रूप को प्रकट करूँगा।' इसी प्रकार केनोपनिषद् (३/१-१०) में यक्ष की आख्यायिका के अंतर्गत भी यही सिद्ध किया गया है कि 'अग्नि और वायु आदि देवताओं में स्वयं कार्य करने की स्वतंत्र शक्ति नहीं है, बल्कि उस सर्वशक्तिमान् परब्रह्म से शक्ति प्राप्त कर ही वे अपने-अपने कार्य-सम्पादन में समर्थ होते हैं।' गीता में भी जीव का कर्त्तापन ईश्वराधीन बतलाया गया है- '**ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया**' (१८/६१) अर्थात् 'हे अर्जुन! शरीर रूपी यंत्र में आरूढ़ हुए समस्त जीवों को अपनी माया से कर्मानुसार चलाता हुआ, ईश्वर सबके हृदय में निवास करता है।' इस प्रकार शास्त्रोक्तियाँ यह सिद्ध करती हैं कि जीवात्मा परब्रह्म के शक्ति एवं सहयोग से ही कुछ भी करने में समर्थ होता है, स्वतंत्रतापूर्वक नहीं ॥४१ ॥

शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि यदि जीवात्मा का कर्त्तापन ईश्वर के अधीन है, तो शास्त्र का विधि-निषेध व्यर्थ है; क्योंकि ईश्वर की प्रेरणा से सब कुछ हो जाने पर उनका कोई प्रयोजन नहीं रहता। फिर ऐसा मानने पर कि ईश्वर पहले तो जीवों से शुभाशुभ कर्म करवाता है और फिर कर्मफल का भोग करवाता है, ब्रह्म में विषमता और निष्ठुरता का जो दोष लगेगा उसका निराकरण किस प्रकार होगा। इस पर सूत्रकार कहते हैं—

(२५९) कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य: ॥४२ ॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, कृतप्रयत्नापेक्ष: = जीव के परम्परागत कर्मसंस्कारों की अपेक्षा रखते हुए उसको नवीन कर्म करने की शक्ति और साधन ब्रह्म ही प्रदान करता है तथा, विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य: = विधि- निषेध शास्त्र की सार्थकता आदि हेतुओं से भी ब्रह्म सर्वथा निर्दोष है।

व्याख्या— परमात्मा द्वारा जीव को नवीन कर्म करने के लिए जो साधन और शक्ति दी जाती है, वह जीव के जन्म-जन्मान्तर के संचित कर्म और संस्कारों की अपेक्षा से ही दी जाती है। साथ ही उस शक्ति और साधनों का सदुपयोग करने हेतु विवेक भी सुहृद परम प्रभु द्वारा मनुष्य को प्रदान किया जाता है तथा विवेक को विकसित करने के लिए शास्त्रों में शुभ कर्मों का विधान एवं अशुभ अर्थात् बुरे कर्मों का निषेध भी किया गया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने स्वभाव के सुधार की स्वतंत्रता प्रदान की है, अत: परमात्मा सर्वथा दोष रहित है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य का हर कर्म ईश्वर की प्रेरणा एवं सहयोग पर अवलम्बित है, किन्तु उससे प्राप्त शक्ति एवं साधन का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने की स्वतंत्रता है। अत: शुभ-अशुभ कर्मों के परिणाम का दायित्व जीव पर ही है। इस स्वतंत्रता को भी यदि जीव ईश्वरार्पण करके पूर्णतया उन्हीं पर निर्भर हो जाये, तो कर्म के बन्धन से सहज ही मुक्त हो सकता है ॥४२ ॥

पूर्व प्रकरण में जीवात्मा को कर्त्ता एवं परब्रह्म परमात्मा को जीव के कर्मों का नियोजक सिद्ध किया गया है। इससे जीव और ब्रह्म का भेद प्रमाणित होता है। उपनिषदों में जीव और ब्रह्म के भेद तथा अभेद दोनों का प्रतिपादन है। अत: सूत्रकार द्वारा उक्त विरोध का निराकरण करने के उद्देश्य से अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

(२६०) अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥४३॥

सूत्रार्थ—- नानाव्यपदेशात् = श्रुतियों में जीवों को अलग-अलग बताया गया है इसलिए, च = तथा, अन्यथा = अन्य प्रकार से, अपि = भी, अंश: = जीव ब्रह्म का अंश है, एके = क्योंकि एक शाखा वाले आचार्य, दाशकितवादित्वम् = ब्रह्म को दाश (केवट) और कितव (जुवारी) आदि रूप कहकर, अधीयते = अध्ययन करते हैं।

व्याख्या— श्रुतियों में कहा गया है कि जीवात्मा और परमात्मा पृथक्-पृथक् हैं। कारण यह है कि जीव अल्पज्ञ है, जबकि ब्रह्म सर्वज्ञ है। जीव परमात्मा के नियम में आबद्ध है और परमात्मा जीव का नियामक है; किन्तु परमात्मा और जीवात्मा का ऐक्य प्रतिपादित होने से जीवात्मा ईश्वर का ही अंश है। सुबाल श्रुति में जीव के माता, पिता, भाई, आवास, शरण, सुहृद, गति आदि सभी कुछ नारायण ही निर्दिष्ट हैं। इस तथ्य से जीवात्मा-परमात्मा का सम्बन्ध विभुरूप सिद्ध होता है। एक शाखा (अथर्ववेद के ब्रह्मसूक्त में- **'ब्रह्म दाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवा:'** ये केवट ब्रह्म हैं, दास ब्रह्म हैं तथा ये जुआरी ब्रह्म हैं- ऐसा कहा गया है।) के अनुसार जीवों का बहुत्व एवं उसकी ब्रह्मरूपता सिद्ध होती है। इस तथ्य से भी जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में अंश-अंशी का भाव सिद्ध होता है, किन्तु वह भाव कार्य-कारण रूप में है, न कि वस्तु के टुकड़ों के रूप में; क्योंकि परमात्मा को अवयव रहित अखण्ड कहा गया है, उसका खण्ड नहीं हो सकता है ॥४३॥

जीव और ब्रह्म के अंश-अंशी भाव में सूत्रकार वेद प्रमाण देते हुए हेतु प्रस्तुत करते हैं—

(२६१) मन्त्रवर्णाच्च ॥४४॥

सूत्रार्थ— मन्त्रवर्णात् = मन्त्र के वर्णों से, च = भी यही तथ्य सिद्ध होता है।

व्याख्या— वेद मंत्र के वर्णों से भी यही बात सिद्ध होती है कि जीव ईश्वर का अंश है। ऋ. १०.९०.३ तथा यजु. ३१.३ में वर्णित मंत्र ..... **'पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'** में समस्त भूतों के उस ब्रह्म के एक पाद (अंश) में ही स्थित होने तथा तीन पाद उसके अविनाशी स्वरूप में विद्यमान होने के वर्णन से ब्रह्म-जीव का अंश-अंशी भाव स्पष्ट है ॥४४॥

अब इसी तथ्य को स्मृति प्रमाण से सिद्ध करते हैं—

(२६२) अपि च स्मर्यते ॥४५॥

सूत्रार्थ— च = तथा, अपि = भी, स्मर्यते = स्मरण किया गया (प्रस्थानत्रयी के स्मृति ग्रन्थ भगवद्गीता आदि द्वारा)।

व्याख्या— यह तथ्य केवल मंत्र में ही नहीं, वरन् स्मृति में भी वर्णित हुआ है कि जीव ईश्वर का ही अंश है। प्रस्थानत्रयी के स्मृति ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय के सातवें श्लोक में श्रीकृष्ण ने कहा है- **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:'** अर्थात् जीवलोक (संसार) में जितने भी जीव भूतादि सनातन हैं, वे सब मेरे ही अंश हैं। यहाँ उल्लेख मिलता है कि इसमें प्रयुक्त सनातन शब्द जीव की विभुता के लिए नहीं, वरन् जीव के ब्रह्मांश होने का द्योतक है। स्मृति में जीव-स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे ज्ञानाश्रय, ज्ञानगुण, चेतन प्रकृति से परे, अजन्मा एवं शरीर और रूप के वैशिष्ट्य वाला निरूपित किया गया है, इससे जीव का ब्रह्म का अंश होना सिद्ध होता है ॥४५॥

यहाँ शिष्य के यह आशंका करने पर कि यदि जीव ब्रह्म का अंश है, तो जीव के सुख-दु:ख भोगने पर, ब्रह्म (सर्वव्यापक होने से) भी सुख-दु:खादि का भोक्ता होता होगा, सूत्रकार कहते हैं—

(२६३) प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६ ॥

सूत्रार्थ— परः = परमात्मा, एवम् = इस प्रकार जीवात्मा के सुख-दु:खादि भोगों से, न = सम्बद्ध नहीं होता, प्रकाशादिवत् = जिस प्रकार प्रकाश आदि अपने अंश के दोषों से अलिप्त रहते हैं।

व्याख्या— जिस प्रकार प्रकाश सूर्य आदि अपने अंश रूप किरणों के दोष से लिप्त नहीं होते। तात्पर्य है कि प्रकाश की किरणें अच्छे-बुरे सभी स्थानों में पड़ती हैं तथा वहाँ के वातावरण का कोई प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। ठीक उसी प्रकार परब्रह्म परमेश्वर भी अपने अंश रूप जीवात्माओं के कर्म-दोषों, सुख-दु:खादि से प्रभावित नहीं होता। कठोपनिषद् (२/१/११) में उल्लेख है- जैसे समस्त लोकों के नेत्र रूप सूर्यदेव (व्यक्तियों के) नेत्रों के दोष से लिप्त नहीं होते, वैसे ही समस्त जीवों के एकमात्र अन्तरात्मा परमेश्वर भी लोकों के दु:खों से लिप्त नहीं होते॥४६ ॥

इसी तथ्य को अब स्मृति प्रमाण द्वारा भी सिद्ध करते हैं—

(२६४) स्मरन्ति च ॥४७॥

सूत्रार्थ— च = तथा, स्मरन्ति = स्मृतियों में भी यही तथ्य निर्दिष्ट है।

व्याख्या— इसी तथ्य को कि जीवात्मा के अन्तस्तल में रहते हुए परमात्मा उसके गुण-दोषों, सुख-दु:ख से प्रभावित नहीं होता, स्मृतियों में भी पुष्ट किया गया है। गीता १३.३१ में उल्लेख है- '**अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' अर्थात् भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे कौन्तेय! परमात्मा अविनाशी, अनादि तथा गुणातीत है, अत: वह शरीर में रहते हुए भी न स्वयं कर्त्ता है और न ही सुख-दु:खादि द्वन्द्वों का भोक्ता है, न ही उनसे लिप्त होता है। जैसे कमल पत्र जल में रहते हुए भी जल में डूबकर उससे लिप्त नहीं होता, वैसे ही परमात्मा जीव के शरीर में रहते हुए उसके कर्मफलादि से लिप्त नहीं होता। ऋ. १.१६४.२० के '**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**' में भी जीवात्मा को दो साथी बताकर उनकी स्थिति को स्पष्ट करते हुए यही तथ्य दर्शाया गया है॥४७॥

जब यह स्पष्ट हो गया है कि ब्रह्म और जीव का अंश और अंशी सम्बन्ध है, अर्थात् सभी जीवों में परमात्मा का निवास है, तब कुछ शास्त्रों में निर्दिष्ट विधि निषेध क्यों है अर्थात् किन्हीं के लिए कोई कर्म करने की आज्ञा और किन्हीं के लिए कोई कर्म करने का निषेध क्यों किया गया है। इसी का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

(२६५) अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८ ॥

सूत्रार्थ— अनुज्ञापरिहारौ = विधि और निषेध, ज्योतिरादिवत् = ज्योति आदि के समान, देहसम्बन्धात् = शरीर के सम्बन्ध से है।

व्याख्या— शरीर वैभिन्य के कारण जीवात्मा का सम्बन्ध पृथक्-पृथक् शरीरों के साथ पृथक्-पृथक् किया गया है, वह उचित ही है। जिस प्रकार श्मशान आदि की अग्नि त्याज्य तथा यज्ञादि की अग्नि ग्रहणीय होती है, उसी प्रकार शरीरों के भेद से विधि-निषेध भी निश्चित होती है। जैसे-ब्राह्मण के लिए सेवा वृत्ति का निषेध तथा शूद्र के लिए सेवा वृत्ति की अनुज्ञा दी गई है, इसी प्रकार क्षत्रिय के लिए रक्षा के दायित्व तथा वैश्य के लिए पोषण के दायित्व के सम्बन्ध में समझा जा सकता है॥४८ ॥

अब शिष्य के यह जिज्ञासा करने पर कि उपर्युक्त प्रकार से अनुज्ञा और निषेध की व्यवस्था होने पर भी जीवात्माओं को विराट् मान लेने से उन आत्माओं तथा उनके कर्मों का पृथक्-पृथक् विभाग कैसे होता होगा ? आचार्य सूत्रकार कहते हैं—

(२६६) असंततेश्चाव्यतिकरः ॥४९ ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, असन्ततेः = एक आत्मा की व्याप्ति अन्य शरीरों तक न होने के कारण, अव्यतिकरः = उनका एवं उनके कर्मों का मिश्रण नहीं होता अर्थात् एक के कर्म दूसरे को व्याप्त नहीं करते।

व्याख्या— एक आत्मा का निवास एक ही शरीर में रहता है, इसलिए उससे सम्बद्ध सुख-दुःखादि का वह ही भोग करती है। चूँकि वह अन्य शरीरों में व्याप्त नहीं होती, अतः अन्य शरीरों के सुख-दुःखादि भोगों से भी वह सम्पृक्त नहीं होती। जिस प्रकार आकाश में संव्याप्त अनेक शब्द परस्पर मिश्रित न रहकर पृथक्-पृथक् विभक्त रहते हैं और एक ही समय में विभिन्न स्थलों में सुने जाते हैं, उसी प्रकार शरीर से सम्बद्ध आत्माओं के कर्म और कर्मफल अलग-अलग ही रहते हैं, अर्थात् एक शरीर से सम्बद्ध आत्मा अपने किये का फल स्वयं भोगती है, दूसरे शरीर से सम्बद्ध आत्मा के कर्मफल पहली वाली आत्मा को नहीं भोगने पड़ते ॥४९ ॥

यहाँ तक जीवात्मा-परमात्मा के अंशाशिभाव तथा जीवात्माओं के कर्मफल असांकर्य भाव को श्रुति- स्मृति आदि विविध प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया है। अब कहते हैं कि इनके अतिरिक्त जो जीवात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में अलग मत हैं, वे आभास मात्र हैं, प्रमाण रूप नहीं हैं—

(२६७) आभासा एव च ॥५० ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, आभासाः = इस सन्दर्भ में दी गई अन्य मान्यताएँ आभास मात्र, एव = ही हैं।

व्याख्या— विगत सूत्रों में जीवात्मा को परमात्मा का अंश सिद्ध करने के निमित्त जो शास्त्र सम्मत तर्क, तथ्य और प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, वे ही प्रामाणिक हैं। लोग जीवात्मा को परमात्मा का अंश न मानकर उन्हें स्वतंत्र मानते हैं एवं इसके लिए विविध तर्क देते हैं, वे वस्तुतः आभास मात्र हैं। उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥५० ॥

शिष्य के यह कहने पर कि परमात्मा को शास्त्रों में अखण्ड एवं निरवयव कहा गया है, अस्तु उसके खण्ड होने सम्भव नहीं हैं, तथापि जीवों को परमेश्वर का अंश कहते हैं, वह अंश और अंशीभाव अवास्तविक है, वह घटाकाश की भाँति औपाधिक निमित्त से प्रतीत होता है, आचार्य समाधान करते हैं—

(२६८) अदृष्टानियमात् ॥५१ ॥

सूत्रार्थ— अदृष्ट = अन्य जन्मों में किये गये कर्मफल भोग की व्यवस्था का, अनियमात् = कोई प्रत्यक्ष नियम न होने से (औपाधिक निमित्त से जीवों को परमात्मा का अंश मानना उचित नहीं है।)।

व्याख्या— पूर्व जन्मों के कर्मफल भोग का प्रत्यक्ष नियम न होने से जीवों की कर्म समानता स्वीकार नहीं की जा सकती। वस्तुतः सभी जीव समान हैं भी नहीं, तब उनके कर्म एक जैसे कैसे हो सकते हैं? एक ही योनि के जीवों के विभिन्न कर्म एक समान नहीं होते हैं, तब उनके फल भी एक समान कैसे हो सकते हैं? यदि उन्हें स्वतंत्र मान लिया जाये तब उनके अदृष्ट (पूर्व जन्म में किये गये कर्म) का फल भोग कौन करायेगा? यदि यह कहा जाये कि स्वतः ही वे अपने कर्मों का फल भोग लेंगे, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि कर्म जड़ हैं, वे अपने फल भोग की व्यवस्था स्वयं कैसे कर सकते हैं। यदि यह माना जाये कि एक ही परमात्मा घटाकाशवत् उपाधि के निमित्त से विविध जीवों के रूप में प्रतीत हो रहा है,तो भी यह सम्भव नहीं है कि उन जीवों के कर्मफल भोग की व्यवस्था हो सके । कारण यह है कि इस मान्यता के अनुरूप जीवात्मा-परमात्मा का भेद-अवास्तविक होगा, तब समस्त जीवों के कर्मों और उनके भोक्ताओं का विभाग करना तथा परमात्मा को उन सभी से पृथक् रहकर उनके कर्मफल की व्यवस्था बनाने वाला मानना सम्भव नहीं हो सकता। अस्तु , यही मानना उचित है कि सभी जीव परमात्मा के ही अंश हैं, उसी से प्रकट होते हैं, और वही (परमात्मा) सबकी यथोचित कर्मफल व्यवस्था करता है ॥५१ ॥

अब यह दर्शाते हैं कि केवल कर्मफलभोग में ही नहीं, संकल्प आदि में भी वही दोष उत्पन्न होगा—

(२६९) अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्॥५२॥

सूत्रार्थ— च = और (इसके अतिरिक्त), एवम् = इसी प्रकार, अभिसन्ध्यादिषु = संकल्प आदि में, अपि = भी (यही अव्यवस्था उत्पन्न होगी)।

व्याख्या— जिस प्रकार पूर्व सूत्र में वर्णित तथ्य कि ईश्वर और जीवों का अशांशि-भाव वास्तविक न होकर घटाकाशवत् प्रतीति मात्र होने से जीवों के कर्मफल भोग की नियमित व्यवस्था नहीं हो सकती, ठीक इसी प्रकार ऐसा (ऊपर की पंक्तियों में वर्णित तथ्य) मानने पर जीवों के संकल्प और इच्छा आदि के विभाजन की भी नियमित व्यवस्था नहीं हो सकेगी। कारण यह है कि सभी जीवों के संकल्प आदि आपस में पृथक् न रह सकेंगे, साथ ही परमेश्वर के संकल्प आदि से भी उनका पार्थक्य सिद्ध नहीं हो पायेगा। अस्तु, शास्त्रों में जो परमात्मा के द्वारा संकल्पपूर्वक सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन है, उसकी भी संगति बिठा पाना कठिन होगा॥५२॥

अब उपाधियों में देशभेद से भी इस व्यवस्था के न हो पाने का तथ्य दर्शाते हैं—

(२७०) प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्॥५३॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहें कि, प्रदेशात् = उपाधियों में परस्पर देशभेद होने से (कर्मफलादि व्यवस्था का नियमन हो जायेगा), इति न = तो यह भी नहीं कह सकते, अन्तर्भावात् = (क्योंकि समस्त देशों का उपाधि में एवं उपाधियों का समस्त देशों में) अन्तर्भाव हो जाता है।

व्याख्या— यदि यह कहा जाये कि उपाधियों में देशभेद होने से समस्त जीवों का पृथक्-पृथक् विभाजन हो जायेगा एवं उसी के द्वारा कर्मफल भोग एवं संकल्प आदि की व्यवस्था भलीभाँति हो जायेगी, तो यह भी सम्भव नहीं; क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापी होने के कारण समस्त उपाधियों में संव्याप्त है। यदि उपाधियों के देश में भेद है, तो उससे परमात्मा के देश में भेद नहीं हो सकता। प्रत्येक उपाधि का सम्बन्ध सभी देशों से सम्भव है। कारण यह है कि घट आदि उपाधि के स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करने से वहाँ स्थित आकाश गमन नहीं करता, वरन् जहाँ वह (उपाधि) जाती है, वहाँ स्थित आकाश उसमें आ जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि समस्त आकाश देश का अन्तर्भाव समस्त उपाधियों में होता है। ठीक इसी प्रकार समस्त उपाधियों का भी अन्तर्भाव आकाश में होता है। ऐसी स्थिति में किसी प्रकार भी कर्मफलादि का विभाग सिद्ध नहीं हो पायेगा। अस्तु, जीवात्मा और परमात्मा का अशांशि-भाव घटाकाश की तरह उपाधि निमित्तक होना सम्भव नहीं है॥५३॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥

॥ अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥

तृतीय पाद में पंचभूतों एवं अन्तःकरणादि की उत्पत्ति प्रतिपादित की गई है। जीवात्मा की उत्पत्ति और स्वरूप भी गौण रूप से निरूपित किया गया है। इन्द्रियों एवं प्राण की उत्पत्ति प्रतिपादित न होने से अब चतुर्थ पाद में इनके प्रतिपादन तथा इनसे सम्बन्धित विरोधों का परिहार किया जा रहा है—

(२७१) तथा प्राणाः ॥१ ॥

सूत्रार्थ— तथा = उसी तरह, प्राणाः = प्राण शब्द वाच्य इन्द्रियों का भी (ब्रह्म से ही प्रादुर्भाव होता है)।

व्याख्या— जिस तरह आकाश आदि पंचभूत परब्रह्म से प्रादुर्भूत होते हैं; उसी तरह समस्त इन्द्रियों का प्रादुर्भाव भी उसी परब्रह्म से होता है। कारण यह है कि आकाशादि पंचभूतों और इन्द्रियों की उत्पत्ति में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। मुण्डक उपनिषद् (२.१.३) में स्पष्ट है कि परब्रह्म परमात्मा से ही प्राण, मन, समस्त इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी, जल, वायु , ज्योति (अग्नि) एवं आकाश की उत्पत्ति होती है।

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' (मुण्डक. २/१/३)। इस प्रकार इस श्रुति वाक्य से यह तथ्य स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रियों का आविर्भाव भी उसी परब्रह्म से हुआ है, जिससे पंचभूत तथा अन्य सभी प्रकट हुए हैं॥१ ॥

पूर्व में वर्णन किया जा चुका है कि वाणी से तेज उत्पन्न हुआ है, इसलिए तेज से ही ओत-प्रोत है। इससे तो समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति पंचभूतों से ही हुई सिद्ध होती है। अन्य मतों में भी ऐसा ही माना गया है। तब उस श्रुति वचन कि ब्रह्म से ही इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं व इस तथ्य में समानता कैसे होगी ? इसी जिज्ञासा पर आधारित अगला सूत्र है—

(२७२) गौण्यसम्भवात्॥२ ॥

सूत्रार्थ— असम्भवात् = सम्भव न होने के कारण (वह श्रुति), गौणी = गौण है (अर्थात् तत्सम्बन्धी श्रुति कथन प्रमुख न होकर गौण है)।

व्याख्या— छा. उ. ६/६/४ की श्रुति में उल्लेख है कि भक्षित तेज का सूक्ष्मांश ही एकीकृत होकर वाणी बनता है। इससे यह आशय निकलता है कि तैजस पदार्थ का सूक्ष्मांश वाणी को बल सम्पन्न बनाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन्द्रिय का प्रादुर्भाव तैजस तत्त्व से पूर्व ही हुआ है। ठीक इसी प्रकार अन्य श्रुतिवचनों में भी उल्लेख है कि भक्षित अन्न से मन की तथा पिये हुए जल से प्राण की उत्पत्ति हुई है। अब प्रश्न यह है कि जब अन्न खाया, तब मन उत्पन्न हुआ, तब क्या उससे पहले मन था ही नहीं ? इसी प्रकार पानी पीने से प्राण बनने के सन्दर्भ में प्रश्न यह है कि प्राणों के बिना जल पीना संभव कैसे हो सकता है ? जब यह सम्भव ही नहीं तब जल से प्राणों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है।

अस्तु, कहा जा सकता है कि जल पर जीवन आधारित होने के कारण गौण रूप से जल से प्राण की उत्पत्ति निरूपित की गई है, न कि मुख्य रूप से। इसी प्रकार वागिन्द्रिय की उत्पत्ति तैजस पदार्थ से होना श्रुति का गौण कथन ही है। ऐसा मान लेने पर श्रुतियों में जो परस्पर विरोध प्रतीत होता है,वह समाप्त हो जायेगा॥२ ॥

अब दूसरे प्रकार से श्रुति का गौणत्व सिद्ध किया जा रहा है—

(२७३) तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥३ ॥

सूत्रार्थ— तत्प्राक्छ्रुतेः = श्रुति के द्वारा उत्पन्न उन पंचतत्त्वों (आकाश आदि) से पूर्व इन्द्रियों का उत्पन्न होना कहा गया है, च = भी (इससे भी यही सिद्ध होता है कि तेज से वाक् आदि की उत्पत्ति का श्रुति निरूपण गौण है)।

व्याख्या— ब्राह्मणों, उपनिषदों में इन्द्रियों की उत्पत्ति पंचतत्त्वों से पूर्व में हुई वर्णित की गई है, शत. ब्रा.

६/१/१, मुण्डक २/१/३ में भी यही तथ्य ध्वनित होता है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति पंचभूतों से पहले हुई है, आकाशादि तत्त्वों से इन्द्रियों की उत्पत्ति नहीं हुई है, किन्तु जो ऐसा उल्लेख मिलता है, वह गौण कथन है न कि प्रमुख। अस्तु विगत सूत्र में जो तेज आदि से वाक् आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति का श्रुति कथन व्याख्यायित है, वह गौण ही है ॥३ ॥

अब दूसरे तर्क द्वारा इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं—

(२७४) तत्पूर्वकत्वाद् वाचः ॥४॥

सूत्रार्थ— वाचः = वाणी की उत्पत्ति वर्णित है, तत्पूर्वकत्वात् = ब्रह्म के तीनों तत्त्वों में प्रविष्ट होने के पश्चात् (अस्तु, तेज से वाक् उत्पन्न होने से सम्बन्धित श्रुति गौण है)।

व्याख्या— छान्दोग्योपनिषद् (६.३.१-३) में वर्णन है कि उन तत्त्वरूपी तीन देवताओं (तेज, अप् एवं पृथिवी) में ब्रह्म जीवात्मा रूप से प्रविष्ट हो गया और उसी ने नाम रूप वाले जगत् की सृष्टि की। इस प्रकार जब जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म के (उन तत्त्वों में) प्रवेशपूर्वक वर्णित है, तब इन्द्रियों की उत्पत्ति उन तत्त्वों से न मानकर ब्रह्म से ही मानी जायेगी। अस्तु स्पष्ट है कि तेज तत्त्व से वाणी की उत्पत्ति का कथन गौण है, प्रधान नहीं ॥४ ॥

यह सिद्ध किया गया कि इन्द्रियों की उत्पत्ति ब्रह्म द्वारा ही होती है, जो पंचतत्त्वों से पूर्व ही हो जाती है। अब यह बताते हैं कि कहीं इन्द्रियों की संख्या सात तथा कहीं ग्यारह वर्णित है, उनमें से कौन सा प्रतिपादन अधिक सही है—

(२७५) सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५ ॥

सूत्रार्थ— सप्त = इन्द्रियाँ सात बतायी गई हैं, गतेः =क्योंकि सात ही ज्ञात होती हैं, च = और, विशेषितत्वात् = श्रुति में सप्त-प्राण कहकर इन्द्रियों के लिए ही विशेष रूप से संकेत किया है।

व्याख्या— श्रुति में वर्णन मिलता है कि इन्द्रियाँ प्रमुखतः सात ही हैं। इन्हें ही सात प्राण कहा गया है। सात प्राणों के रूप में कही गई ये सात इन्द्रियाँ आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, वाक् एवं मन हैं। कहीं दो नेत्र, दो घ्राण, दो श्रवण और जिह्वा को मिलाकर सात प्राण माने गये हैं, ये सप्त प्राण सात लोकों में विचरण करते हैं, इसका वर्णन मुण्डकोपनिषद् में किया गया है-

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोकायेषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त (२/१/८) अर्थात् उस पुरुष से ही सात प्राण (दो नेत्र, दो श्रवण, दो घ्राण और एक जिह्वा) उत्पन्न हुए। उसी से अग्नि की सात ज्वालाएँ, सात समिधाएँ (सात विषय) तथा सात यज्ञ उत्पन्न हुए। उसी से ये सप्त लोक प्रकट हुए, जिनमें सप्त प्राण विचरण करते हैं। प्रत्येक प्राणी रूप गुहा में आश्रित-सन्निहित ये सात-सात पदार्थ उसी से प्रकट होते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों का सात होना ही सिद्ध होता है ॥५ ॥

अब ग्यारह इन्द्रियों के विषय में प्राप्त होने वाले प्रतिपादन को प्रस्तुत करते हैं—

(२७६) हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६ ॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, हस्तादयः = हाथ-पैर आदि अन्य इन्द्रियाँ भी हैं, अतः = इसलिए, स्थिते = इस अवस्था में, एवम् न = ऐसा नहीं कहना चाहिए (कि इन्द्रियाँ सात ही हैं।)

व्याख्या— शरीर में हाथ आदि (हाथ, पैर, उपस्थ एवं गुदा) अन्य इन्द्रियाँ भी हैं, जिनका स्पष्ट रूपेण वर्णन अन्य श्रुतियों में मिलता है। बृहदारण्यकोपनिषद् ३/९/४ में उल्लेख है कि पुरुष में स्थित दस प्राण अर्थात् दस इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन है। इस प्रकार एकादश इन्द्रियाँ हैं- **दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः।** मनुष्यों के कार्यों में हाथ, पैर आदि इन्द्रियों का भी करण रूप से प्रयोग होता है, जो प्रत्यक्षतः भी देखा जाता है। इस

प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ- नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, रसना और घ्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ- हाथ, पैर, गुदा, उपस्थ एवं वाक् और एक ग्यारहवीं आन्तरिक अदृश्य इन्द्रिय मन है। अत: यह कहना उचित नहीं कि ७ इन्द्रियाँ ही हैं। यदि किसी कारणवश उन्हें ७ माना जाता है, तो ऊपर वर्णित ४ इन्द्रियों को भी मानना चाहिए ॥६ ॥

इस प्रकार इन्द्रियों की संख्या के सम्बन्ध में उत्पन्न आशंका का निराकरण करते हुए उनकी संख्या ग्यारह है यह सिद्ध किया गया है। अब प्राण अथवा इन्द्रियों को अणुरूप सिद्ध किया जा रहा है—

(२७७) अणवश्च ॥७ ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, अणव: = प्राण अथवा इन्द्रियाँ अणुरूप अर्थात् सूक्ष्म हैं।

व्याख्या— ये सभी प्राण अथवा इन्द्रियाँ अणुरूप अर्थात् सूक्ष्म हैं। प्रत्यक्षत: आँख, नाक, श्रोत्र आदि जो इन्द्रियाँ दिखाई पड़ती हैं, वे वस्तुत: उन इन्द्रियों के गोलक हैं। उनके अन्दर जो प्राण विद्यमान है, वे ही इन्द्रियाँ हैं, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् इन्द्रियों के गोलक तो बने रहते हैं, पर वे कार्य नहीं करते। यदि इन्द्रियाँ स्थूल हों, तो वे मृत्यु के समय निकलती दिखाई दें, पर ऐसा नहीं होता। अत: सिद्ध है कि इन्द्रियाँ अणु परिमाण अर्थात् सूक्ष्म होती हैं ॥७ ॥

अब शिष्य की इस जिज्ञासा पर कि जब सभी प्राण समान हैं, तब उनमें मुख्य प्राण को विशिष्ट क्यों माना जाता है ? आचार्य समाधान करते हैं—

(२७८) श्रेष्ठश्च ॥८ ॥

सूत्रार्थ- श्रेष्ठ: = श्रेष्ठ है (बुद्धि रूप मुख्य प्राण), च = और इसलिए उसे विशिष्टता दी जाती है।

व्याख्या— मुख्य प्राण बुद्धि रूप है। औपनिषद् वर्णनों में मुख्य प्राण को श्रेष्ठ माना गया है (छा.उ. ५/१/१, प्रश्नो. २/३)। चूँकि इसकी उत्पत्ति अन्य प्राणों में सबसे पहले हुई है, इस दृष्टि से मुख्य प्राण रूप बुद्धि को श्रेष्ठ माना जाना- उसे विशिष्टता दिया जाना उचित ही है ॥८ ॥

अब प्राण का स्वरूप निर्धारित करने के निमित्त नया प्रकरण प्रारम्भ कर रहे हैं—

(२७९) न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥९ ॥

सूत्रार्थ— वायुक्रिये = मुख्य प्राण वायु अथवा उसकी क्रिया (स्पन्दन), न = नहीं है, पृथगुपदेशात् = श्रुतियों में पृथक् से वायु और उसकी क्रिया का वर्णन मिलने से।

व्याख्या— श्रुतियों में जहाँ प्राण तत्त्व की उत्पत्ति वर्णित है- वहाँ वायुतत्त्व और उसकी क्रिया का पृथक् से उल्लेख मिलता है (मु.उ. २/१/३)। इससे स्पष्ट होता है कि मुख्य प्राण न तो वायु है और न उसका स्पन्दन है। यह इन दोनों से अलग है ॥९ ॥

अब शिष्य की इस जिज्ञासा पर कि यदि वायु तत्त्व प्राण नहीं है, तब क्या वह जीवात्मा के समान कोई स्वतन्त्र पदार्थ है ? सूत्रकार समाधान करते हैं—

(२८०) चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्य: ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, चक्षुरादिवत् = प्राण भी नेत्र आदि इन्द्रियों के समान (जीवात्मा का उपकरण) हैं, क्योंकि श्रुति में, तत्सह-शिष्ट्यादिभ्य: = उन्हीं इन्द्रियों के साथ इसका (प्राण का) भी वर्णन हुआ है।

व्याख्या— जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ जीव के उपकरण हैं, उसी प्रकार प्राण भी जीव का उपकरण है। छान्दोग्य श्रुति में प्राण का वर्णन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि प्राण (मुख्य प्राण) जीवात्मा के अधीन है न कि उसी की तरह स्वतन्त्र है। छा.उ. ५/१/६-१२ में वर्णन है कि एक बार प्राण और सभी इन्द्रियों ने अपनी श्रेष्ठता निर्धारित करने के लिए ब्रह्मा जी के समक्ष प्रस्ताव रखा। ब्रह्माजी ने कहा कि तुम सबमें से जिसके निकलने से शरीर मृतक हो जाये, वही सर्वश्रेष्ठ है। तत्पश्चात् वाक्,चक्षु, श्रोत्र आदि क्रमश: शरीर से बाहर

निकले, पर फिर भी किसी न किसी प्रकार शरीर का कार्य चलता रहा। अन्ततः प्राण के बाहर निकलने को समुद्यत होने पर सभी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गईं और कहने लगीं, हे प्राण! आप बाहर मत जाइये, आप ही सबसे श्रेष्ठ हैं? इस प्रकरण से इन्द्रियों के साथ प्राण के वर्णन से यह सिद्ध हो गया कि वह भी जीवात्मा का उपकरण मात्र जड़ पदार्थ है॥१०॥

आचार्य द्वारा यह बताये जाने पर कि मुख्य प्राण चक्षुरादि इन्द्रियों की तरह ही जीवात्मा का एक करण है, शिष्य जिज्ञासा करता है कि यदि मुख्य प्राण करण है, तो नेत्र आदि अन्य करणों के विषयों की भाँति इसका भी कोई विषय होना चाहिए? इसका समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हुए कहते हैं—

(२८१) अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति॥११॥

सूत्रार्थ— च = तथा, अकरणत्वात् = (इन्द्रियों के समान) विषयोपभोग में करण रूप न होने से, न दोषः = दोष नहीं है, हि = क्योंकि, तथा दर्शयति = श्रुति स्वयं ही वैसा दिखाती है।

व्याख्या— यह सत्य है कि जैसे नेत्र आदि इन्द्रियाँ रूप आदि विषयों का ज्ञान कराने में करण की भूमिका निभाती हैं, उसी प्रकार प्राण तो प्रत्यक्षतः विषयोपभोग में जीवात्मा के करण की भूमिका नहीं निभाता तथापि उसे जीवात्मा का करण मानने में कोई दोष नहीं है, कारण यह है कि समस्त इन्द्रियों का धारणकर्त्ता और शरीर का पोषणकर्त्ता प्राण ही है, प्राण-संयोग से ही जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करता है। प्राण के रहते ही यह शरीर अस्तित्ववान् रहता है, प्राण न हो तो शरीर स्पृश्य तक नहीं रहता। इस प्रकार श्रुति ने अनेक स्थलों पर इस तथ्य की पुष्टि की है (छान्दो. ५/१/६ से प्रारम्भ होने वाला पूरा प्रकरण, प्रश्नो. ३/१-१२)। अतः प्राण को जीवात्मा का करण मानना दोषपूर्ण नहीं है॥११॥

अब प्राण को जीवात्मा के करण माने जाने के सन्दर्भ में अन्य युक्तियाँ व प्रमाण देते हैं—

(२८२) पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते॥१२॥

सूत्रार्थ— मनोवत् = मन के समान ही, पंचवृत्तिः = (प्राण की भी) पाँच वृत्तियाँ, व्यपदिश्यते = (श्रुति द्वारा) बताई गई हैं।

व्याख्या— जिस प्रकार श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के रूप में मन की पाँच वृत्तियाँ वर्णित हैं, उसी प्रकार मुख्य प्राण को भी श्रुति पाँच वृत्तियों वाला मानती है। ये पाँच वृत्तियाँ हैं- प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। उन्हीं वृत्तियों वाले प्राण हृदयादि पाँच स्थानों पर रहकर विविध-विध जीवात्मा के उपयोग में आते हैं। श्रुतियों में इनका विस्तार से वर्णन है (प्रश्नो. ३/४-७)। योग शास्त्र में भी मन व प्राण की पंचवृत्तियाँ निर्दिष्ट हैं॥१२॥

यह सिद्ध हो जाने पर कि प्राण जीवात्मा और वायु से भिन्न है तथा जीवात्मा का उपकरण है, प्राण के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

(२८३) अणुश्च॥१३॥

सूत्रार्थ— अणुः = यह प्राण अणु स्वरूप (सूक्ष्म), च = भी है।

व्याख्या— पाँच वृत्तियों वाले इस प्राण का स्वरूप सूक्ष्म है। सूक्ष्म से अभिप्राय उसके छोटे आकार से ही न होकर उसकी व्यापकता से है। देखने में भी आता है कि समस्त प्राणधारियों का अस्तित्व प्राण से ही है। प्राण न रहने पर शरीर का मरण हो जाता है। मृत्युकाल में प्राण के उत्क्रमण करते समय किसी सूक्ष्मदर्शी यन्त्र द्वारा भी प्राण को नहीं देखा जा सकता। इससे भी इसका अणु स्वरूप होना सिद्ध होता है॥१३।

प्राण सम्बन्धी प्रकरण यहाँ समाप्त करके अब यह बताते हुए नया प्रकरण आरम्भ करते हैं कि छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित तेज आदि तीन तत्त्वों, जिन्हें सृष्टि उत्पत्ति का निमित्त माना गया है,उनका अधिष्ठाता कौन है?—

(२८४) ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

सूत्रार्थ— ज्योतिराद्यधिष्ठानम् = ज्योति आदि तत्त्व जिसके अधिष्ठान बताये जाते हैं, वह (अधिष्ठाता), तु = तो ब्रह्म ही है, तदामननात् = क्योंकि श्रुतियों में उसी के अधिष्ठाता होने का वर्णन है।

व्याख्या— ज्योति आदि तत्त्वों का अधिष्ठाता कौन है? इसका उत्तर है- ब्रह्म ही है, क्योंकि बह्म की **एकोऽहं बहुस्याम्** की आकांक्षा ही संकल्प बनी और इसी ने तेज की रचना की। तत्पश्चात् तेज ने विचार किया आदि, जिसका वर्णन छान्दोग्य श्रुति ६/२/३-४ में है। इस विवेचन में तेज तत्त्व द्वारा विचार करने का कथन वस्तुत: ब्रह्म के लिए है; क्योंकि तेज आदि जड़ तत्त्व विचार कैसे कर सकते हैं? उसके अन्दर प्रविष्ट उसके अधिष्ठाता ब्रह्म ने ही विचार किया। तैत्ति. उ. २/६ के अनुसार जगत् की रचना करके ब्रह्म उसमें जीवात्मा सहित प्रवेश कर गया। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि तेज आदि तत्त्वों में परमात्मा ने ही प्रवेश करके उनका अधिष्ठाता होकर विचार किया॥१४॥

अब शिष्य की इस जिज्ञासा पर कि यदि परमात्मा ही आकाशादि तत्त्वों का अधिष्ठाता है, तब तो प्रत्येक शरीर का भी अधिष्ठाता होगा। तब जीवात्मा को शरीर का अधिष्ठाता कैसे माना जा सकता है? आचार्य समाधान करते हैं—

(२८५) प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

सूत्रार्थ— प्राणवता = (ब्रह्म द्वारा) प्राणधारी जीवात्मा के साथ प्रवेश करने का, शब्दात् = श्रुति वर्णन होने से यह (जीवात्मा को शरीर का अधिष्ठाता कहना) दोषपूर्ण नहीं है।

व्याख्या— जैसा कि पूर्व सूत्र की व्याख्या में संकेत किया जा चुका है तथा श्रुति में भी निर्दिष्ट है कि तेज आदि तीन तत्त्वों का सृजन करने के पश्चात् ब्रह्म ने विचार किया- अब मैं जीवात्मा सहित इन तीनों तत्त्वों में प्रविष्ट होकर विविध नाम-रूपों को प्रकट करूँ (छान्दो. ६/३/२)। ऐतरेय उपनिषद् में भी सृष्टि उत्पत्ति के वर्णन में जगत्कर्त्ता परमेश्वर द्वारा जीवात्मा को सहयोग देने के उद्देश्य से शरीर में सजीव प्रवेश करने का उल्लेख है। कठोपनिषद् (१/३/१) में जीवात्मा और परमात्मा दोनों के हृदय गुहा में साथ-साथ निवास करने का वर्णन है। अत: जीवात्मा को शरीर का अधिष्ठाता मानने में कोई दोष नहीं है॥१५॥

अब शिष्य यह जिज्ञासा करता है कि श्रुति में तत्त्वों की उत्पत्ति के पूर्व या पश्चात् भी कहीं जीवात्मा की उत्पत्ति का प्रकरण नहीं आया, तब ब्रह्म ने यह विचार कैसे कर लिया कि मैं जीवात्मा सहित इन तत्त्वों में प्रविष्ट होऊँ? इसी का समाधान करते हुए आचार्य अगले सूत्र में कहते हैं—

(२८६) तस्य च नित्यत्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थ— तस्य = उस (जीवात्मा) के ; नित्यत्वात् = नित्य होने की प्रसिद्धि के कारण, च = भी (उसकी उत्पत्ति का वर्णन दोषपूर्ण नहीं है)।

व्याख्या— जीवात्मा के सन्दर्भ में यह प्रसिद्ध है कि वह नित्य अर्थात् अविनाशी है। तथापि शरीर के साथ उसकी उत्पत्ति गौण रूप से ही निर्दिष्ट है। वस्तुत: उसकी उत्पत्ति स्वीकार नहीं की गई (सूत्र २/३/१६-१७)। इसी कारण पञ्चतत्त्वों की उत्पत्ति के पूर्व या पश्चात् जीवात्मा की उत्पत्ति न बतलाकर जीवात्मा समेत ब्रह्म के शरीर में प्रविष्ट होने का वर्णन औचित्यपूर्ण ही है। इस तथ्य में कोई दोष नहीं है॥१६॥

शिष्य की यह आशङ्का है कि प्राण के नाम से श्रुतियों में जो इन्द्रियों का वर्णन है, उससे यह प्रतीत होता है कि इन्द्रियाँ मुख्य प्राण की कार्य रूपा हैं अथवा उसी की वृत्तियाँ। यह भी सम्भव है कि नेत्र आदि इन्द्रियों की तरह मुख्य प्राण भी एक इन्द्रिय हो या उन्हीं के समान कोई अन्य तत्त्व। इस भ्रमपूर्ण स्थिति के समाधान के लिए आचार्य अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

(२८७) त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥

सूत्रार्थ— ते = वे मन इत्यादि, इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ,श्रेष्ठात् = मुख्य प्राण से भिन्न हैं, अन्यत्र तद्व्यपदेशात् = क्योंकि श्रुतियों में अन्यत्र उसका वर्णन भिन्नतापूर्वक किया गया है।

व्याख्या— अन्य श्रुतियों में मुख्य प्राण को इन्द्रियों से भिन्न निरूपित किया गया है। वहाँ इन्द्रियों का वर्णन प्राण के नाम से नहीं किया गया है। मुण्डक उपनिषद् २/१/३ में इसका स्पष्ट उल्लेख है। अस्तु, इन्द्रियाँ एवं मन प्राण से सर्वथा भिन्न हैं। न इन्द्रियाँ मुख्य प्राण की कार्य रूपा हैं और न प्राण इन्द्रिय है। शरीर में समस्त इन्द्रियों की अवस्था मुख्य प्राण के आधिपत्य में है, इसी कारण श्रुति में गौण रूपेण इन्द्रियों को प्राण नाम से अभिहित किया गया है, मुख्यत: नहीं॥१७॥

अब मुख्य प्राण का इन्द्रयों से वैभिन्न्य सिद्ध करने हेतु अन्य तर्क दे रहे हैं—

(२८८) भेदश्रुतेः ॥१८॥

सूत्रार्थ— भेदश्रुतेः = श्रुतियों में इन्द्रियों का मुख्य प्राण से पार्थक्य निरूपित किया गया है (इसलिए भी उनका भिन्न होना सिद्ध होता है)।

व्याख्या— श्रुतियों में जहाँ प्राण नाम से इन्द्रियों का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ भी वह प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है कि मुख्य प्राण से उनका भेद स्पष्ट झलके (मुण्डको. २/१/३; बृहदारण्यको. १/३/३)। अन्यत्र मुख्य प्राण की श्रेष्ठता निरूपित करते हुए, उसे सभी तत्त्वों तथा इन्द्रियों से पृथक् वर्णित किया गया है (प्रश्नो. २/२/३)। इस भेद वर्णन से स्पष्ट है कि मुख्य प्राण इन्द्रियों से भिन्न है॥१८॥

अब एक अन्य तथ्य द्वारा इन्द्रियों की मुख्य प्राण से भिन्नता सिद्ध करते हैं—

(२८९) वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

सूत्रार्थ— वैलक्षण्यात् = परस्पर विलक्षणता होने से, च = भी यही सिद्ध होता है (कि इन्द्रियों और मुख्य प्राण में अन्तर है)।

व्याख्या— सुषुप्तावस्था में जबकि इन्द्रियाँ और अन्त:करण विलीन होकर निश्चेष्ट हो जाते हैं, उस अवस्था में भी मुख्य प्राण जाग्रत् रहता है, वह निष्क्रिय नहीं होता। चूँकि वह इन्द्रियों और शरीर का धारण कर्त्ता है, यदि वह सो जायेगा, तो उसी क्षण शरीरादि विनष्ट हो जायेंगे। अत: इन्द्रियों और प्राण के इसी लक्षण वैभिन्न्य के कारण सिद्ध है कि मुख्य प्राण और इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं। न तो इन्द्रियाँ प्राण का कार्य हैं और न प्राण इन्द्रिय ही है॥१९॥

विगत सूत्रों की व्याख्या में यह वर्णन आ चुका है कि तेज आदि तत्त्वत्रय की रचना के उपरान्त परमात्मा जीव सहित उनमें प्रविष्ट हुआ और नामरूपात्मक संसार का सृजन किया। इस सन्दर्भ में शिष्य की यह आशङ्का है कि यह नामरूपात्मक जगत् का रचयिता स्वयं परमात्मा ही है अथवा कोई जीव विशेष। इसी के निराकरण हेतु नया प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है—

(२९०) संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२०॥

सूत्रार्थ— संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः = नाम-रूप की रचना, तु = तो, त्रिवृत्कुर्वतः = तीन तत्त्वों (तेज, आप:, पृथिवी) का परस्पर सम्मिश्रण करने वाले की ही है; उपदेशात् = क्योंकि श्रुति में इसी प्रकार का वर्णन मिलता है।

व्याख्या— सम्पूर्ण नाम रूप से युक्त जगत् का सृजन करना परमेश्वर का ही कार्य है, जीवात्मा का नहीं। श्रुति में जो तेज आदि तत्त्वों में जीवात्मा समेत परमेश्वर के प्रविष्ट होने का तथ्य निरूपित किया गया है, उसका प्रयोजन जीवात्मा के कर्त्तापन में परमेश्वर के कर्त्तव्य का प्राधान्य प्रदर्शित करना है, न कि जीवात्मा को सृष्टि-रचयिता बताना। स्पष्ट है कि जगत् का स्रष्टा वह ब्रह्म ही है, जीव नहीं; क्योंकि सृष्टि रचना उसी का कार्य है, जीव का नहीं॥२०॥

चूँकि यह स्पष्ट हो चुका है कि ब्रह्म ने ही तीन तत्त्वों तेज, जल और पृथिवी का सृजन करके उनमें जीवात्मा सहित प्रवेश करके उन तीनों का परस्पर सम्मिश्रण करके सृष्टि का सृजन किया है। अब शिष्य की नई जिज्ञासा कि किस तत्त्व से कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ, उसके विभाग कैसे बने आदि का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

(२९१) मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२१ ॥

सूत्रार्थ— भौमम् = पृथिवी के कार्य, मांसादि = मांस आदि (मांस, पुरीष, मन) हैं, च = उसी प्रकार, इतरयोः =अन्य तत्त्वों (जल, तेज आदि) के कार्य भी, यथाशब्दम् = श्रुति में निर्दिष्ट वर्णन के अनुसार समझ लेना चाहिए।

व्याख्या— पृथिवी के अर्थात् भूमिरूप अन्न के तीन कार्य मांस, पुरीष (विष्ठा) और मन श्रुति में निर्दिष्ट हैं (छान्दोग्यो. ६/५/१ –'**अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः**')। उसी प्रकार उस प्रकरण में अन्य तत्त्वों (तेज, जल आदि) के सम्बन्ध में वर्णित श्रुति शब्दों को समझना चाहिए, (उल्लेखनीय है कि छान्दोग्य श्रुति में ६/५/१-३ तक उपर्युक्त तीनों तत्त्वों के कार्य वर्णित हैं, जिनमें पृथिवी का स्थूल भाग मांस, मध्य भाग पुरीष तथा सूक्ष्म भाग मन के रूप में परिणत होता है। तेज का स्थूल भाग अस्थि, मध्य भाग मज्जा तथा सूक्ष्म अंश वाक् में परिणत होता है, इसी प्रकार जल का स्थूल भाग मूत्र, मध्य भाग रक्त तथा सूक्ष्म भाग प्राण में परिणत हो जाता है।) ये ही इन तत्त्वों के कार्य हैं॥२१ ॥

शिष्य यह आशंका करता है कि जब श्रुति के अनुसार तीनों तत्त्वों के मिश्रण से सृष्टि प्रादुर्भूत हुई, तब किसी एक तत्त्व से कोई एक पदार्थ निर्मित हुआ, यह कैसे कहा जा सकता है? इसी का समाधान आचार्य अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(२९२) वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२ ॥

सूत्रार्थ— तद्वादः = वह कथन (मांस आदि को भौम अर्थात् भूमि से उत्पन्न कहना), तु = तो, वैशेष्यात् = (भूमितत्त्व की) विशेषता या अधिकता के कारण है, तद्वादः = यह तद्वादः शब्द का पुनर्कथन अध्याय की समाप्ति का संकेतक है।

व्याख्या— तत्त्वों के सम्मिश्रण में भी तीन तत्त्वों में से किसी एक की अधिकता रहती है और अन्य तत्त्वों की न्यूनता। अतः विशिष्टता के कारण अधिकता वाले तत्त्व का ही कथन कर दिया जाता है। अस्तु उक्त तथ्य में कोई विरोध नहीं है। तद्वादः पद का पुनर्कथन अध्याय की समाप्ति का संकेत करने के लिए किया गया है॥२२ ॥

उपर्युक्त प्रकरण में भूतों के संसर्ग के कारण इन्द्रियों, प्राण और मन आदि को भूतों से उत्पन्न होने वाला गौण रूप से कह दिया गया है। वस्तुतः ये भूतों के कार्य नहीं हैं, भूतों से भिन्न हैं, जिसकी सिद्धि पहले २/४/२ में की जा चुकी है। इस प्रकार यह अध्याय समाप्त होता है।

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥